विषयानुक्रमणिका

।। श्रीः ।।

भूमिका

1. **वैदिक साहित्य का संक्षिप्त परिचय–** अथाह ज्ञान–राशि के अक्षय भण्डार 'वेद' भारत ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्वसाहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। सामान्यरूप से वेदों से अभिप्राय ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इन्हीं चार वेदों से ग्रहण किया जाता है, किन्तु **'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'** इत्यादि कथन के अनुसार, संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, सूत्रग्रन्थ और वेदाङ्ग तक सम्पूर्ण वैदिक साहित्य को ही वेद–संज्ञा प्रदान की गयी है।

वेदों को 'श्रुति' भी कहा गया है, क्योंकि प्राचीन समय में लेखन–कला के विकास के अभाव में, गुरु–शिष्य परम्परा से ही वेदों को सुरक्षित रखा गया। तदनुसार गुरु अपने शिष्यों को इनका ज्ञान कराते थे, जिसे शिष्य सुनकर हृदयङ्गम करके, अपने शिष्यों को उन्हीं मन्त्रों की शिक्षा प्रदान करते थे। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में स्वर एवं उच्चारण सम्बन्धी दोषों का विशेषरूप से ध्यान रखा जाता था। इसके अलावा सार्थक, सुसङ्गत और श्रेष्ठ अर्थ का कथन करने के कारण, वेदों को 'निगम' संज्ञा भी प्रदान की गयी है।

भारतीय संस्कृति और शास्त्रों के द्वारा वेदों को आप्त–प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है। यही कारण है कि इन्हें सदा ही आदर की दृष्टि से देखा जाता रहा है। इसका अभिप्राय यही है कि जिन बातों को हम प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण द्वारा नहीं जान पाते हैं, उन्हें वेदों के माध्यम से सहजरूप में ही जाना जा सकता है।

'वेदोऽखिलो हि धर्ममूलम्'[1] मनुस्मृतिकार के कथन के अनुसार वेद को सभी धर्मों का मूल भी स्वीकार किया गया है। यहाँ तक कि वेदों को सर्वज्ञानमय और सभी विद्याओं का उत्पत्ति स्थान भी माना गया है।[2] वस्तुस्थिति तो यह है कि वेदों में दर्शन, राजनीति, मनोविज्ञान, गणित, अर्थशास्त्र, काव्यशास्त्र, अध्यात्म आदि अनेकानेक विषयों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म चिन्तन किया गया है, जो हमारे ऋषि–मुनियों की नवनवोन्मेषिणी प्रतिभा के ही परिचायक कहे जा सकते हैं।

इतना ही नहीं, विश्व की सर्वाधिक प्राचीन भारतीय–संस्कृति के तो मूलस्रोत ही वेद रहे हैं। इसलिए यदि हम भारतीय–संस्कृति के वास्तविकरूप को समझना चाहते हैं, तो हमें वेद और परवर्ती वैदिक साहित्य का ही मुखापेक्षी होना होगा। भारतीय संस्कृति के प्रसिद्ध विद्वान् लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक ने तो आर्यत्व के लक्षण के रूप में वेदों की प्रामाणिकता को ही प्रमुखरूप से स्वीकार किया है– **'प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु।'**

कहने का अभिप्राय यही है कि– वेदों का सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, भाषा–वैज्ञानिक, ऐतिहासिक, काव्यशास्त्रीय एवं धार्मिक दृष्टियों से अत्यधिक महत्त्व है, क्योंकि सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में प्राचीन भारतीय सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, ऐतिहासिक, धार्मिक आदि अनेकानेक स्थितियों का विशदरूप में विवरण उपलब्ध होता है। इसके अलावा ऋषियों की काव्य–शास्त्रीय प्रतिभा से परिचित होने के लिए भी हमें वेदों का अध्ययन ही विशेषरूप से करना होगा। इसप्रकार **वैदिक साहित्य के महत्त्व** को दृष्टिगत करते हुए, हम यहाँ सर्वप्रथम इसका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं–

अध्ययन की दृष्टि से हम सम्पूर्ण वैदिक साहित्य को मुख्यरूप से पाँच भागों में विभाजित कर सकते हैं–

---

1. वेदोऽखिलो हि धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च।। मनुस्मृति– 2/6 ।
2. यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः।। मनुस्मृति–2/7 ।

(क) संहिता–ग्रन्थ
(ख) ब्राह्मण–ग्रन्थ
(ग) आरण्यक–ग्रन्थ
(घ) उपनिषद्–ग्रन्थ
(ङ) वेदाङ्ग
(च) अनुक्रमणी साहित्य

(क) संहिता–ग्रन्थ– वेदों के मन्त्रात्मक भाग को संहिता कहा गया है। छन्दोबद्धता ही इस साहित्य की प्रमुख विशेषता रही है। इनमें स्वर–चिह्नों का भी प्रयोग किया गया है। ईश्वरीय प्रेरणा द्वारा वैदिक ऋषियों ने जैसा दर्शन[1] या अनुभव किया, उसी सबको यहाँ संकलित किया गया है। संहिता–ग्रन्थों की संख्या चार है–

1) **ऋग्वेद संहिता–** यह सर्वाधिक प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण संहिता है, इसमें दस मण्डलों के अन्तर्गत 1028 सूक्तों में 10552 मन्त्रों को संकलित किया गया है। ये सभी स्तुतिपरक मन्त्र हैं, क्योंकि **'ऋच्यते स्तूयते अनया इति ऋक्'**।

ऋचाओं के संग्रह के कारण ही इसे ऋग्वेद–संहिता संज्ञा प्रदान की गयी है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इसकी इक्कीस शाखाओं का उल्लेख किया है,[2] किन्तु आचार्य शौनक ने इसकी केवल पाँच शाखाओं को ही मान्यता प्रदान की है, तदनुसार– शाकल शाखा, वाष्कल शाखा, आश्वलायन शाखा, शाङ्खायन शाखा, माण्डूकायन शाखा। उपर्युक्त शाखाओं में आजकल ऋग्वेद की केवल **शाकल शाखा** ही उपलब्ध है, इसलिए यही प्रचलन में भी है।

2) **यजुर्वेद संहिता–** पद्यबन्ध और गीतिसहित मन्त्रात्मक संरचना को 'यजुष्' कहा जाता है। इस संहिता में यज्ञ–विषयक मन्त्रों का संग्रह किया गया है।[3] इसीकारण इसे **'अध्वर्युवेद'** भी कहते हैं। उल्लेखनीय है कि इसमें कुछ मन्त्र ऋग्वेद संहिता से ग्रहण किए गए

---

1. ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः।
2. एकविंशतिधाबाह्वृच्यम्– (महाभाष्य आह्निक–1)
3. यजुर्यजते ।

हैं। इतना ही नहीं, इस संहिता में कुछ अंश गद्यात्मकरूप में भी विद्यमान है। महर्षि पतञ्जलि ने इसे **सौ शाखाओं वाला** बताया है,[1] वर्तमान में इसकी केवल छः शाखाएँ ही उपलब्ध हैं–

(अ) शुक्ल यजुर्वेद की **माध्यंदिन संहिता** और **काण्व संहिता**

(आ) कृष्ण यजुर्वेद की **कठ, कपिष्ठल, मैत्रायणी** और **तैत्तिरीय** संहिता ।

इनमें भी माध्यंदिन संहिता को ही वाजसनेयी संहिता भी कहते हैं। इसमें कुल चालीस अध्याय, तीन सौ तीन अनुवाक और 3975 मन्त्र हैं। शुक्ल यजुर्वेद का 'शतपथ ब्राह्मण' और 'बृहदारण्यकोपनिषद्' अत्यधिक प्रसिद्ध है। यजुर्वेद में यज्ञ–विषयक मन्त्रों के अलावा ऐन्द्रजालिक मन्त्र और प्रहेलिकाओं का भी प्रयोग हुआ है।

3) **सामवेद संहिता**– ऋग्वेद के मन्त्रों को ही विशेष गान–पद्धति द्वारा गाए जाने पर उन्हें **'सामन्'** कहा गया है[2], क्योंकि 'स' अथवा 'सा' का अर्थ है, ऋग्वेद और 'अम' का अभिप्राय है– 'गान'। इसप्रकार साम में वस्तुतः दोनों का समन्वय होता है।[3] यही कारण है कि इस संहिता में ऋग्वेद से ही अधिकाँश मन्त्रों को संकलित किया गया है, क्योंकि इस वेद की कुल मन्त्र–संख्या 1875 में से ऋग्वेद के मन्त्रों की संख्या 1771 रही है।

महर्षि पतञ्जलि ने इसे 1000 शाखाओं वाला बताया है,[4] किन्तु कुछ विद्वानों ने यहाँ 'सहस्र' शब्द से अभिप्राय गान की एक हजार पद्धतियों से ग्रहण किया है।[5] वर्तमान समय में इसकी केवल तीन शाखाएँ ही उपलब्ध हैं– राणायणीय शाखा, कौथुमीय शाखा, जैमिनीय शाखा । इनमें जैमिनीय शाखा को ही तवलकार शाखा भी कहा गया

1. एकशतमध्वर्युशाखा– महाभाष्य आह्निक– 1।
2. गीतिषु समाख्या । पूर्वमीमांसा 2.1.36 ।
3. यजुर्वेद– अध्याय 30 ।
4. सहस्रवर्त्मा सामवेदः– महाभाष्य आह्निक– 1।
5. विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य– सामवेद संहिता, श्री दामोदर सातवलेकर की भूमिका, पृ. 1–2 ।

है। विषय की दृष्टि से सामवेद संहिता में उपासना की ही प्रमुखता रही है, साथ ही, यहाँ सोमयाग से सम्बन्धित मन्त्रों का भी अधिक उपयोग हुआ है।

कौथुमीय शाखा के अनुसार 'सामवेद संहिता' के दो विभाग हैं– **(अ) पूर्वार्चिक (ख) उत्तरार्चिक।** यहाँ आर्चिक से अभिप्राय 'ऋचा सम्बन्धी' से ग्रहण करना चाहिए। इसके पूर्वार्चिक में छः प्रपाठक हैं और प्रपाठकों को अध्यायों एवं खण्डों में विभाजित किया गया है। इसके एक खण्ड को **'दशति'** भी कहते हैं, जिसके अन्तर्गत एक ही देवता और छन्द विषयक ऋचाओं को संकलित किया गया है।

इसके पूर्वार्चिक में सामयोनि ऋचाओं की संख्या कुल 650 रही है तथा उत्तरार्चिक में कुल नौ प्रपाठक विद्यमान हैं। प्रथम से पंचम प्रपाठक तक प्रत्येक प्रपाठक में, दो प्रपाठकार्ध तथा षष्ठ प्रपाठक में नवम प्रपाठक तक प्रत्येक में तीन प्रपाठकार्ध हैं, जिनमें सङ्कलित की गयी सामयोनि ऋचाओं की संख्या कुल 1225 रही है।

4) **अथर्ववेद संहिता**– इस संहिता के अन्तर्गत विषयों का अत्यधिक वैविध्य है, जैसे– यहाँ तन्त्र, मन्त्र और जादू–टोने आदि अनेक विषयों से सम्बन्धित मन्त्रों का संकलन किया गया है। कुछ मन्त्र यहाँ ऋग्वेद से भी ग्रहण किए गए हैं। मुख्यरूप से 'अथर्वा' ऋषि द्वारा द्रष्ट मन्त्रों का संग्रह किए जाने के कारण इसे 'अथर्ववेद' संज्ञा प्रदान की गयी है, किन्तु कुछ विद्वान् 'अथर्वा' की व्याख्या कुछ भिन्न प्रकार से करते हैं।[1] इसी को आङ्गिरस वेद, अथर्वाङ्गिरसा वेद, **ब्रह्मवेद** आदि नामों से भी पुकारा गया है।

1. (क) गोपथ ब्राह्मण ने अथर्वा को अथर्वाक् का संक्षिप्त रूप मानते हुए 'समीप में स्थित आत्मा को अपने अन्दर देखने से' ग्रहण किया है। (गोपथ– 1–4)
(ख) जबकि निरुक्तकार ने इसे √थर्व् धातु को गत्यर्थक मानते हुए अथर्वन् का अर्थ गतिहीन या स्थिर किया है। इसका अभिप्राय हुआ कि– इस वेद में चित्तवृत्तियों के निरोधरूपी योग का उपदेश किया गया है, इसलिए इसका नाम अथर्ववेद रखा गया है। निरुक्त– 11–18 ।

महर्षि पतञ्जलि ने इसकी नौ शाखाओं का कथन किया है,[1] किन्तु वर्तमान में इसकी शौनक और पैप्पलाद दो शाखाएँ ही उपलब्ध हैं। अध्यात्म, दार्शनिक चिन्तन, सभ्यता और संस्कृति आदि अनेक दृष्टियों से भी इस वेद का अत्यधिक महत्त्व है। इसके अलावा इस वेद के मन्त्रों का विनियोग शान्ति स्थापना, शत्रुओं से सन्धि, यात्राओं में सुरक्षा, धन–दौलत, स्वास्थ्य एवं दीर्घायु प्राप्त करने, रोगों और दुष्टों के विनाश के लिए भी किया जाता था। इसलिए इसे अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई।

इसकी शौनकीय शाखा में कुल 20 काण्ड, 731 सूक्त, तथा 5987 मन्त्रों का प्रयोग हुआ है। इनमें भी 1200 मन्त्रों को ऋग्वेद से ग्रहण किया गया है। इसके 13वें काण्ड में अध्यात्म विषयक सूक्तों का प्रयोग हुआ है। इस संहिता का **गोपथ ब्राह्मण** अत्यधिक प्रसिद्ध है।

(ख) ब्राह्मण–ग्रन्थ– इन्हें वैदिक साहित्य की दूसरी कड़ी के रूप में देखा जा सकता है। 'संहिता–ग्रन्थों के मन्त्रों की व्याख्या तथा विनियोग करने के कारण इन्हें 'ब्राह्मण' संज्ञा प्रदान की गयी है।' इसके अतिरिक्त 'ब्रह्मन्' शब्द का एक अर्थ 'यज्ञ' भी है। अतः वेद–मन्त्रों की यज्ञ–विषयक व्याख्या प्रस्तुत करने के कारण इन्हें ब्राह्मण–ग्रन्थ कहा गया। इनमें यज्ञों की आध्यात्मिक, आधिदैविक और वैज्ञानिक व्याख्याएँ प्रस्तुत की गयी हैं।

इसी प्रसङ्ग में यह भी उल्लेखनीय है कि सभी 'ब्राह्मण ग्रन्थ' गद्यरूप में प्रयुक्त हुए हैं। यही कारण है कि यहाँ हमें सर्वाधिक प्राचीन वैदिक संस्कृत के गद्यरूप के दर्शन होते हैं। साथ ही, वेद–मन्त्रों की व्याख्या की दृष्टि से भी इनके महत्त्व को स्वीकार किया जा सकता है। इसीप्रकार इन ग्रन्थों में वैदिक शब्दों के निर्वचन भी प्रस्तुत किए गए हैं, जिन्हें व्याकरण एवं भाषा–विज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व पूर्ण माना गया है। सभी चारों संहिताओं के ब्राह्मण–ग्रन्थों का अलग–अलग रूप में निर्माण किया गया है। ध्यातव्य यह भी है कि इन सभी

[1]. नवधाऽऽथर्वणोवेदः । महाभाष्य आह्निक– 1 ।

ग्रन्थों की रचना लगभग सम–सामयिक रही है। आचार्य शौनक ने इनकी संख्या 1100 स्वीकार की है, जबकि महर्षि पतञ्जलि ने इसे 1130 माना है, किन्तु वर्तमान समय में केवल नौ ब्राह्मण ग्रन्थ ही मिलते हैं, जिनका संक्षेप में विवरण इसप्रकार है–

(क) **ऋग्वेदीय ब्राह्मण–** ऋग्वेद के विशेषरूप से दो ब्राह्मण ग्रन्थ ही मिलते हैं–

(अ) ऐतरेय ब्राह्मण– यह ऋग्वेद का सर्वाधिक प्रसिद्ध ब्राह्मण है। इसके रचयिता **'महर्षि महीदास ऐतरेय'** हैं। इसीकारण इसका नाम ऐतरेय ब्राह्मण पड़ा। इसमें कुल चालीस अध्यायों का प्रयोग हुआ है। इस ब्राह्मण का मुख्य वर्ण्य–विषय 'सोमयाग' रहा है। इसके इकतीस से तैंतीस अध्यायों में शुनःशेप का प्रसिद्ध आख्यान प्रयुक्त हुआ है। इसमें तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक स्थिति पर प्रकाश पड़ता है, क्योंकि ऋग्वेद का सम्बन्ध 'होता' नामक 'ऋत्विक्' से है, इसलिए इस ब्राह्मण का सम्बन्ध भी 'होता' से ही रहा है। इसी के महत्त्वपूर्ण क्रियाकलापों का वर्णन, इस ब्राह्मण ग्रन्थ में विशेषरूप से उपलब्ध होता है।

(आ) शाङ्खायन ब्राह्मण– इसके रचयिता कौषीतकि रहे हैं, इसीलिए इसको 'कौषीतकि ब्राह्मण' भी कहते हैं।' इसमें कुल तीस अध्यायों का प्रयोग हुआ है, जिन्हें विभिन्न संख्या वाले खण्डों में विभाजित किया गया है। यद्यपि इसका मुख्य विषय सोमयाग रहा है, किन्तु इसमें अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास तथा चातुर्मास्य आदि इष्टियों का वर्णन भी किया गया है।[1]

(ख) **यजुर्वेदीय ब्राह्मण–** जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है कि यजुर्वेद के दो भाग हैं– शुक्ल यजुर्वेद तथा कृष्ण यजुर्वेद। इन दोनों के भी अलग–अलग ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना की गयी, जिसका विवरण इसप्रकार है–

[1]. द्रष्टव्य, लेखककृत शांखायण ब्राह्मण, (दो खण्डों में), विस्तृत भूमिका एवं हिन्दी अनुवाद, प्रकाशक– चौखम्भा ओरियन्टालिया, दिल्ली, 2020, कुल–713 पृष्ठ ;

अ) **शतपथ ब्राह्मण** (शुक्ल यजुर्वेदीय)– एक सौ अध्यायों में निबद्ध यह ब्राह्मण अत्यधिक प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण है। ध्यातव्य है कि शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखाओं माध्यन्दिन और काण्व दोनों के ही 'शतपथ' नाम से अलग–अलग ब्राह्मण प्राप्त होते हैं। विषय की एकरूपता होते हुए भी दोनों में वर्णक्रम और अध्यायों में पर्याप्त अन्तर है। प्राचीन आख्यानों के विवेचन तथा यज्ञ–विधान की दृष्टि से इस ब्राह्मण का अत्यधिक महत्त्व है। विद्वद्परम्परा इसका प्रणेता याज्ञवल्क्य ऋषि को मानती आयी है।

आ) **तैत्तिरीय ब्राह्मण** (कृष्णयजुर्वेदीय)– इस ब्राह्मण के कुल तीस काण्डों में वाजपेय, राजसूय, सोमयाग, अग्न्याधान, सौत्रामणियाग और नक्षत्रेष्टि का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। कृष्णयजुर्वेद के दूसरे ब्राह्मण प्राप्त नहीं होते हैं।

(ग) **सामवेदीय ब्राह्मण**– इसके ग्यारह ब्राह्मण उपलब्ध हैं, जिनमें **ताण्ड्य** जिसे पञ्चविंश भी कहा जाता है तथा **सामविधान** और जैमिनीय ब्राह्मण विशेषरूप से कथनीय हैं।

(i) **ताण्ड्य ब्राह्मण**– इसी को 'प्रौढ़', 'पञ्चविंश' तथा 'महा–ब्राह्मण' भी कहा गया है। यह सामवेद की ताण्ड्य शाखा का प्रमुख ब्राह्मण है। इसके 25 अध्यायों का मुख्य विवेच्य विषय सोमयाग रहा है।

(ii) **सामविधान ब्राह्मण**– इसके तीन प्रकरणों में पुत्र, ऐश्वर्य तथा दीर्घायुष्य की प्राप्ति के लिए, विभिन्न प्रकार के अनुष्ठानों का वर्णन किया गया है। साथ ही, कृच्छ्र तथा अतिकृच्छ्र आदि व्रतों का भी यहाँ विस्तार से कथन हुआ है।

(iii) **षड्विंश ब्राह्मण**– यह वस्तुतः पञ्चविंश का ही परिशिष्ट है। इसमें पाँच प्रपाठक हैं, जिनमें अनेक प्रकार के धार्मिक अनुष्ठानों, आधि भौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक विषयों का वर्णन किया गया है।

(iv) **जैमिनीय ब्राह्मण**–इसी का अन्य नाम तवलकार भी है। इसमें यज्ञ तथा अनुष्ठानों के महत्त्व का विवेचन किया गया है। इसी ब्राह्मण के एक भाग को जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण अथवा गायत्र्युपनिषद् भी कहा जाता है। इनके अलावा सामवेद के अन्य ब्राह्मण इसप्रकार हैं–

(v) **अद्भुत् ब्राह्मण**– षड्विंश के अन्तिम प्रपाठक को ही अद्भुत ब्राह्मण भी कहा जाता है। इसमें विभिन्न प्रकार के उत्पातों की शान्ति के विधान की चर्चा की गयी है।

(vi) **आर्षेय ब्राह्मण**– यह तीन प्रपाठकों तथा 82 खण्डों में विभाजित है। इसका उपयोग वस्तुतः सामवेद की आर्षानुक्रमणी को जानने के लिए किया जाता है। साथ ही, इसमें सामगान के उद्भावक ऋषियों के नामों का संग्रह भी किया गया है।

(vii) **दैवत ब्राह्मण**–इसी को 'देवताध्याय' नाम से भी जाना जाता है। इसमें कुल तीन खण्ड हैं। छन्दों के निर्वचन और देवताओं के वर्णन की दृष्टि से इस ब्राह्मण का अत्यधिक महत्त्व स्वीकार किया गया है।

(viii) **संहितोपनिषद् ब्राह्मण**–पाँच खण्डों वाला यह ब्राह्मण, सूत्रों में विभाजित है। सामगायन को प्रस्तुत करने की दृष्टि से इसका अत्यधिक महत्त्व है।

(ix) **वंश ब्राह्मण**– इसके तीन खण्डों में सामवेद के आचार्यों की वंशपरम्परा का विस्तार से उल्लेख किया गया है। इसीलिए इसे 'वंश–ब्राह्मण' संज्ञा प्रदान की गयी है।

(ग) **छान्दोग्य ब्राह्मण**– इसी का दूसरा भाग मन्त्र ब्राह्मण भी है। इसमें दो ग्रन्थ निबद्ध हैं– छान्दोग्य ब्राह्मण तथा छान्दोग्योपनिषद्। छान्दोग्य ब्राह्मण में कुल दो प्रपाठक हैं तथा प्रत्येक में दो खण्डों का प्रयोग किया गया है। इसीप्रकार आठ प्रपाठकों में निबद्ध छान्दोग्योपनिषद् में अनेकानेक रोचक विषयों का वर्णन किया गया है। यही वस्तुतः प्रसिद्ध 'छान्दोग्योपनिषद्' भी है।

(घ) **अथर्ववेदीय ब्राह्मण**– इस वेद का केवल एक गोपथ ब्राह्मण ही उपलब्ध होता है–

(i)गोपथ ब्राह्मण– इसके रचयिता महर्षि 'गोपथ' को माना जाता है। अतः उन्हीं के नाम से इसे यह नामकरण दिया गया है। इसे दो भागों में विभाजित किया गया है– (क) पूर्वगोपथ तथा (ख) उत्तर गोपथ। इसके प्रथम भाग में पाँच तथा द्वितीय में कुल छः अध्याय हैं तथा सम्पूर्ण ब्राह्मण में ग्यारह प्रपाठक और 258 कण्डिकाएँ हैं। इसका अधिक भाग ऐतरेय तथा कौषीतकि ब्राह्मण से तथा कुछ भाग तैत्तिरीय, शतपथ एवं पञ्चविंश ब्राह्मणों से ग्रहण किया गया है।

इस दृष्टि से इसमें मौलिक अंश कम ही है। इसमें ब्रह्मा की विशेषरूप से प्रशंसा की गयी है। इसके अलावा अथर्ववेद की उत्पत्ति, उसकी प्रशंसा, ओंकार तथा गायत्री की महिमा, ब्रह्मचारी के कर्तव्य और वेदाध्ययन की विधियों का कथन भी हुआ है। इसके पञ्चम प्रपाठक में संवत्सर–सत्र तथा अश्वमेध–यज्ञों के विधान का उल्लेख किया गया है।

इसी के उत्तर–गोपथ में विभिन्न प्रकार के यज्ञों की प्रक्रियाओं का विवेचन है। वस्तुतः विषय विवेचन की दृष्टि से इसमें व्यवस्था का अभाव ही रहा है। इसके प्रथम प्रपाठक में यज्ञ के भाग हेतु रुद्र के युद्ध का, दूसरे में विभिन्न देवताओं के लिए अर्पित की जाने वाली हवियों का तथा तीसरे में वषट् और हिंकार के अर्थों के रहस्यों का तथा चतुर्थ, पञ्चम और षष्ठ प्रपाठक में प्रातः, मध्याह्न और सायं–कालिक यज्ञों की धार्मिक क्रियाओं का उल्लेख किया गया है। ध्यातव्य है कि यज्ञीय प्रक्रियाओं की स्थिति के आधार पर ही विद्वानों द्वारा इसे ब्राह्मण–ग्रन्थों तथा सूत्र–साहित्य के बीच की कड़ी के रूप में मान्यता प्रदान की गयी है।

(ग) आरण्यक–ग्रन्थ– अरण्य में रहने वाले मुनियों तथा वानप्रस्थियों ने ब्रह्मतत्त्व और यज्ञादि के विषय में जो चिन्तन किया, वही इन ग्रन्थों में निबद्ध है। इसी कारण इन्हें 'आरण्यक' संज्ञा प्रदान की गयी।[1] आचार्य सायण का इस विषय में मन्तव्य है कि– **'अरण्य एव पाठ्यत्वाद् आरण्यमितीर्यते'**

[1]. अरण्ये भवम्, इति आरण्यकम् अर्थात् अरण्य में उत्पन्न होने वाला ।

रचनाक्रम की दृष्टि से संहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों के बाद ही आरण्यकों का स्थान माना गया है। एक ओर ये ब्राह्मण ग्रन्थों के परिशिष्ट हैं तो दूसरी ओर इनमें उपनिषदों के बीज भी विद्यमान हैं। इसके अलावा इन्हें ब्राह्मण ग्रन्थों का पूरक भी माना गया है, क्योंकि इनमें हमें ज्ञान–काण्ड तथा कर्म–काण्ड का समन्वय दृष्टिगत होता है। इन ग्रन्थों में हमें आत्मा, परमात्मा, ज्ञान, कर्म, उपासना तथा सृष्टि की उत्पत्ति आदि उपनिषदों के अनेक विषयों के साथ–साथ वैदिक यागों के आध्यात्मिक एवं तात्त्विक चिन्तन के भी दर्शन होते हैं।

सैद्धान्तिक दृष्टि से तो जितनी संहिताएँ हैं, उतने ही ब्राह्मण तथा उतने ही उनके आरण्यक भी होने चाहिएँ, किन्तु वर्तमान समय में कुछ ही आरण्यक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनका संक्षेप में परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है–

(i) **ऋग्वेदीय आरण्यक–** ब्राह्मण ग्रन्थों के समान ही ऋग्वेद के दो आरण्यक उपलब्ध हैं, जिनका यहाँ संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है–

अ) ऐतरेय आरण्यक– ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण के परिशिष्ट को ही 'ऐतरेय आरण्यक' कहा गया है। इसमें कुल अट्ठारह अध्याय हैं, जो पाँच भागों में विभक्त हैं। यह प्रत्येक भाग 'आरण्यक' कहा जाता है। इसमें उक्थ, प्राण–विद्या, महाव्रत, पदपाठ एवं क्रम–पाठों के वर्णन के साथ–साथ स्वर व्यञ्जन के स्वरूप का भी कथन किया गया है। इसके प्रथम तीन भागों के रचयिता ऐतरेय ऋषि, चतुर्थ के आश्वलायन तथा पञ्चम के आचार्य शौनक माने गए हैं। इस आरण्यक पर शंकराचार्य और आचार्य सायण ने भाष्य किया है।

ब) शाङ्खायन आरण्यक– इसमें पन्द्रह अध्याय, 137 खण्डों में विभक्त हैं। इस आरण्यक पर भी आचार्य सायण और शंकराचार्य का भाष्य उपलब्ध है। इसी आरण्यक के तीन से छः अध्यायों को कौषीतकि उपनिषद् कहा जाता है। इस आरण्यक का प्रमुख विवेच्य महाव्रत रहे हैं। इसमें काशी, मत्स्य, उशीनर, विदेह तथा कुरु–

पाञ्चालों का उल्लेख, इसे मध्यप्रदेश से सम्बद्ध करता है। इसके तेरहवें अध्याय में उपनिषदों के अनेक उद्धरण दिए गए हैं।

(ii) **यजुर्वेदीय आरण्यक**– शुक्ल यजुर्वेद का कोई आरण्यक उपलब्ध नहीं है। शतपथ ब्राह्मण की माध्यन्दिन और काण्व दोनों शाखाओं के अन्त में स्थित छः अध्याय 'बृहदारण्यकोपनिषद्' कहे जाते हैं। बीच–बीच में यज्ञों के महत्त्व का कथन किए जाने से कुछ विद्वान् इसे आरण्यक कहते हैं, किन्तु इसमें उपनिषदों का विषय वर्णित होने के कारण इसे उपनिषद् मानना अधिक उचित प्रतीत होता है। कृष्ण यजुर्वेद के दो आरण्यक उपलब्ध हैं–

(क) **तैत्तिरीय आरण्यक**– कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध होने के कारण इसे इस नाम से कहा गया है। इसके 10 प्रपाठकों में 170 अनुवाक हैं। यज्ञोपवीत का सर्वप्रथम उल्लेख इसी आरण्यक में मिलता है। इसमें अग्नि की उपासना, स्वाध्याय, पञ्च महायज्ञ, इष्टिका–चयन, अभिचार–मन्त्र एवं पितृमेध आदि का वर्णन हुआ है। इसके अलावा इसमें कुरुक्षेत्र, खाण्डव तथा पाञ्चाल आदि प्रदेशों के नामों का भी कथन किया गया है। इसके 10वें प्रपाठक को 'नारायणीय उपनिषद्' कहते हैं। इसं आरण्यक में 'नरकों' का वर्णन भी किया गया है तथा उपनिषदों के लिए यहाँ 'श्रमण' शब्द का प्रयोग हुआ है।

(ख) **मैत्रायणी आरण्यक**– इसका सम्बन्ध कृष्ण–यजुर्वेद की मैत्रायणी संहिता से है। इसलिए इसे मैत्रायणी उपनिषद् भी कहा जाता है। इसमें आरण्यक और उपनिषद् का अंश मिश्रित है। यह आरण्यक सात प्रपाठकों में विभाजित है।

(iii) **सामवेदीय आरण्यक**– इससे सम्बन्धित दो आरण्यक उपलब्ध हैं–

(क) **तवलकार आरण्यक**– इसी का दूसरा नाम 'जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण' या 'तवलकार आरण्यक' भी है। इसमें ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् दोनों का मिश्रण उपलब्ध होता है। इसमें कुल

चार अध्याय हैं, प्रत्येक अध्याय अनुवाकों में विभक्त है। इसके चतुर्थ अध्याय के दसवें अनुवाक को ही 'केन' उपनिषद् के नाम से जाना जाता है। इसमें सामवेद के अनेक मन्त्रों की सुन्दर और प्रभावी व्याख्या की गयी है।

(ख) **छान्दोग्य आरण्यक**–डॉ. सत्यव्रत सामश्रमी ने इसे 'सामवेद आरण्यक संहिता' के नाम से प्रकाशित किया है।

(iv) **अथर्ववेदीय आरण्यक**–अथर्ववेद का कोई भी आरण्यक उपलब्ध नहीं है।

(घ) **उपनिषद्–ग्रन्थ**– उप एवं नि उपसर्गपूर्वक √सद् धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर उपनिषद् शब्द निष्पन्न होता है। इसका अभिप्राय है– 'तत्त्वज्ञान के लिए गुरु के निकट विनम्रतापूर्वक बैठना' उपनिषदों में तत्त्वज्ञान का प्रतिपादन किया गया है। उपनिषद् का एक अर्थ 'ब्रह्मविद्या' भी है, क्योंकि इन ग्रन्थों में 'ब्रह्मविद्या' के विषय में विस्तृत चर्चा की गयी है, इसलिए इन्हें उपनिषद् कहते हैं।

विद्वानों ने इसकी संख्या 108 से लेकर 200 तक मानी है। सन् 1948 में निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से 120 उपनिषदों का संग्रह मूल रूप में प्रकाशित किया गया, किन्तु विद्वानों ने इसमें मात्र 13 उपनिषदों को ही प्रमुख माना है। शङ्कराचार्य आदि विद्वानों ने 11 उपनिषदों को प्रामाणिक मानकर उनका भाष्य किया है। शेष उपनिषदों को इन्होंने प्रामाणिक स्वीकार नहीं किया है। अतः वेदों के अनुसार इन तेरह उपनिषदों का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है–

(i) **ऋग्वेदीय उपनिषद्**– ऋग्वेद की कुल दो उपनिषद् प्राप्त हैं, जिनका हम यहाँ संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं–

(क) **ऐतरेय उपनिषद्** –यह उपनिषद् सर्वाधिक प्राचीन मानी गयी है। ऐतरेय आरण्यक के चतुर्थ अध्याय से लेकर षष्ठ अध्याय तक के अंग को 'ऐतरेय उपनिषद्' के नाम से जाना जाता है। इसप्रकार

इसमें केवल तीन अध्याय हैं, जिनमें क्रमशः सृष्टि, जीव और ब्रह्म इन तीन विषयों का विवेचन किया गया है।[1]

(ख) **कौषीतकि उपनिषद्**[2]–आकार की दृष्टि से इसका स्थान बृहदारण्यक तथा छान्दोग्योपनिषद् के पश्चात् तीसरा है। इसमें कुल चार अध्याय हैं। इसके प्रथम अध्याय में पितृयान और देवयान की, द्वितीय और तृतीय अध्यायों में विशुद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों की विस्तृत चर्चा की गयी है तथा चतुर्थ अध्याय में प्रतर्दन, ब्रह्मविद्या को इन्द्र से ग्रहण करते हैं। इसी अध्याय में प्राणतत्त्व का अत्यधिक उदात्त एवं विस्तार से वर्णन किया गया है।

(ii) **यजुर्वेदीय उपनिषद्**– यजुर्वेद की छः उपनिषद् उपलब्ध हैं, जिनका हम यहाँ संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं–

(क) **बृहदारण्यकोपनिषद्**–आकार और प्राचीनता की दृष्टि से इसका प्रथम स्थान है। इसमें छः अध्याय हैं, प्रत्येक अध्याय ब्राह्मणों में विभाजित किया गया है। ब्राह्मण से अभिप्राय यहाँ खण्डों से है। सृष्टि और ब्रह्म इस उपनिषद् का प्रमुख विवेच्य है। उस युग के सबसे बड़े तत्त्वज्ञानी महर्षि **याज्ञवल्क्य** के विचारों के निबद्ध होने से इस उपनिषद् का अत्यधिक महत्त्व है। इसमें आत्मा का स्वरूप, ब्रह्म की सर्व–व्यापकता, जीवात्मा की जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था, जन्म, मरण और मोक्ष इन छः अवस्थाओं का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। पुनर्जन्म का सर्वप्रथम उल्लेख इसी उपनिषद् में किया गया है। इसकी भाषा सरल और संवादात्मक प्रयुक्त हुई है।[3]

(ख) **श्वेताश्वतरोपनिषद्**– इसमें कुल छः अध्याय हैं तथा प्रमुख वर्ण्यविषय शैवधर्म, सांख्य तथा योगदर्शन रहा है। इसके प्रथम अध्याय

[1]. द्रष्टव्य, लेखककृत ऐतरेयोपनिषद्, विस्तृत भूमिका एवं हिन्दी अनुवाद, प्रकाशक– चौखम्भा ओरियन्टालिया, दिल्ली, 2020, कुल–200 पृष्ठ।

[2] द्रष्टव्य, लेखककृत कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्, विस्तृत भूमिका एवं हिन्दी अनुवाद, प्रकाशक– चौखम्भा ओरियन्टालिया, दिल्ली, 2020, कुल–208 पृष्ठ।

[3]. इस उपनिषद् के तृतीय अध्याय की लेखककृत सरल हिन्दी व्याख्या परिमल प्रकाशन, दिल्ली से 1997 में प्रकाशित हुई है।

में शैवधर्म, द्वितीय में योगदर्शन तथा तीसरे से लेकर पाँचवें अध्याय में शैवदर्शन के साथ सांख्यदर्शन के सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है। इसके अन्तिम अध्याय में गुरुमहिमा का वर्णन है। इसे वस्तुतः सांख्य और वेदान्त की आरम्भिक स्थिति का विवेचक उपनिषद् कह सकते हैं।

(ग) **मैत्रायणीयोपनिषद्**– सात प्रपाठकों में विभक्त यह उपनिषद् मुख्यरूप से गद्यात्मक है, किन्तु कहीं–कहीं अत्यल्प रूप में पद्यों का प्रयोग भी हुआ है। दर्शन के विकास क्रम को समझने में यह उपनिषद् महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्वाह करता है। इसमें सांख्यदर्शन के तत्त्व 'योग' के छः अंगों तथा हठयोग के सिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन किया गया है। ईशोपनिषद् तथा कठोपनिषद् के दो–दो उद्धरण इसमें मिलने के कारण विद्वानों ने इसे उन दोनों उपनिषदों की अपेक्षा अर्वाचीन स्वीकार किया है।

(घ) **ईशोपनिषद्**– यह उपनिषद् यजुर्वेद संहिता की वाजसनेयी शाखा का 40वाँ अध्याय है। इसका आरम्भ ईश पद से होने के कारण इसे ईशोपनिषद् कहा जाता है। इसमें कुल 18 पद्य हैं, जिनमें कर्म और उपासना के रहस्य का ज्ञान की दृष्टि से अन्वेषण किया गया है। साथ ही, इसमें निष्कामकर्म की महत्ता, ब्रह्म का स्वरूप, विद्या, अविद्या, सम्भूति तथा असम्भूति का प्रतिपादन सुन्दर ढंग से हुआ है।

(ङ) **कठोपनिषद्**[1]– कृष्ण यजुर्वेद की कठ शाखा से सम्बन्धित होने के कारण इसे कठोपनिषद् कहते हैं। इसमें केवल दो अध्याय हैं तथा प्रत्येक अध्याय तीन–तीन वल्लियों में विभक्त है। इसमें आत्मविद्या का सुन्दरतम ढंग से प्रतिपादन किया गया है। अन्य उपनिषदों के समान ही इसका प्रतिपाद्य भी जीव, ब्रह्म, जगत्, सत्, असत्, जन्म–मृत्यु, बन्धन और मोक्ष आदि का विवेचन करना रहा है। यह अत्यधिक लोकप्रिय उपनिषद् है।

[1]. द्रष्टव्य,लेखककृत कठोपनिषद्, विस्तृत भूमिका एवं हिन्दी अनुवाद, प्रकाशक– चौखम्भा ओरियन्टालिया, दिल्ली, 2020, कुल–316 पृष्ठ।

(च) **तैत्तिरीयोपनिषद्–** यजुर्वेदीय तैत्तिरीय आरण्यक के सप्तम से नवम कुल तीन प्रपाठक ही इस उपनिषद् के नाम से जाने जाते हैं। इनमें कुल तीन वल्लियाँ हैं– शिक्षा, ब्रह्मानन्द तथा भृगु वल्ली। शिक्षा वल्ली में चित्त–शुद्धि, गुरुकृपा प्राप्त करने के साधन, गुरु–शिष्य के सम्बन्ध, उपासना के प्रकार, शिक्षा के प्राचीन आदर्श एवं स्नातक का आचरण, इन सभी विषयों का विस्तृत एवं प्रभावी वर्णन किया गया है। द्वितीय वल्ली में ब्रह्मविद्या का तथा अन्तिम वल्ली के अन्तर्गत ब्रह्म–प्राप्ति के विशिष्ट साधन **पञ्चकोश** का विस्तृत विवेचन हुआ है।

(iii) **सामवेदीय उपनिषद्**– सामवेद की केवल दो ही उपनिषद् उपलब्ध हैं–

(क)**छान्दोग्योपनिषद्**–आठ प्रपाठक और 147 खण्डों में विभक्त, आकार की दृष्टि से इसका उपनिषदों में दूसरा स्थान है। छान्दोग्य ब्राह्मण के अन्तिम आठ अध्यायों को ही छान्दोग्योपनिषद् कहा जाता है। इसमें आत्मा, परमात्मा, शरीर की अनित्यता और प्रकृति का सुन्दर विवेचन किया गया है। इसके चतुर्थ अध्याय में 'सत्यकाम जाबाल' की कथा के माध्यम से ब्रह्म–ज्ञान का आकर्षक उपदेश दिया गया है। षष्ठ अध्याय में उद्दालक आरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को ब्रह्मविद्या का ज्ञान कराया है। सप्तम अध्याय में नारद और सनत्कुमार की कथा के माध्यम से प्राण का महत्त्व प्रतिपादित किया है। इसीप्रकार अष्टम अध्याय में आत्मा की तीन अवस्थाओं जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तथा उसे प्राप्त करने के उपायों को इन्द्र–विरोचन की कथा के माध्यम से ब्रह्म की सर्वोच्च शक्तिमत्ता का कथन किया गया है।

(ख)**केनोपनिषद्**–आरम्भ में 'केन' पद का प्रयोग होने के कारण इसे केनोपनिषद् कहा गया है। यह सामवेद की तवलकार शाखा से सम्बन्धित है। इसलिए इसका दूसरा नाम तवलकार उपनिषद् भी है। इसमें चार खण्ड हैं, इसके प्रथम खण्ड में सगुण एवं निर्गुण ब्रह्म के अन्तर का प्रतिपादन किया गया है। द्वितीय खण्ड में ब्रह्म के रहस्यमय स्वरूप का विवेचन तथा अन्तिम दो खण्डों में उमा–हैमवती के

आख्यान के माध्यम से ब्रह्म की सर्वोच्च शक्तिमत्ता का कथन किया गया है।

(iv)**अथर्ववेदीय उपनिषद्**–इसके बाद हम अथर्ववेद से सम्बन्धित उपनिषदों के विषय में संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं–

(क) **प्रश्नोपनिषद्–** इसमें ब्रह्म–विद्या की जिज्ञासा से युक्त छः ऋषि, महर्षि पिप्पलाद से अध्यात्म विषय पर अपनी जिज्ञासा प्रकट करते हैं। इसलिए इसे प्रश्नोपनिषद् के नाम से जाना गया है। महर्षि पिप्पलाद ने ऋषियों के प्रश्नों के उत्तर अत्यन्त सरल एवं सुबोध भाषा में प्रदान किए हैं। सरलता इस उपनिषद् की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। महर्षियों के प्रश्नों के अन्तर्गत, प्रजा की उत्पत्ति, देवों की संख्या, उनकी श्रेष्ठता का प्रतिपादन, प्राणों की उत्पत्ति, उनके आवागमन का प्रकार, ओंकार की उपासना, षोडश कला सम्पन्न पुरुष आदि प्रमुख विषय हैं। इसमें अक्षर ब्रह्म को जगत् की प्रतिष्ठा बताया गया है।

(ख) **मुण्डकोपनिषद्–** इसमें तीन मुण्डक हैं तथा प्रत्येक मुण्डक दो खण्डों में विभाजित है। 'मुण्डक' शब्द का अभिप्राय है– घुटे हुए सिर वाला। ऐसा प्रतीत होता है कि मुण्डन हुए व्यक्तियों के लिए इसका निर्माण किया गया। ब्रह्मविद्या का उपदेश इस उपनिषद् का प्रमुख विवेच्य है। यहाँ ब्रह्म का ज्ञान कराने वाली विद्या को 'परा' तथा वेद–वेदाङ्ग आदि को 'अपरा–विद्या' कहा गया है। 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखायाः' इत्यादि सांख्यदर्शन से सम्बन्धित प्रसिद्ध मन्त्र इसी उपनिषद् का है, जिसके आधार पर सांख्यदर्शन में जीवात्मा को भोक्ता तथा परमात्मा को तटस्थ साक्षी के रूप में प्रतिपादित किया गया है।

(ग) **माण्डूक्योपनिषद्–** आकार में छोटा होते हुए भी यह उपनिषद् सैद्धान्तिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें केवल 12 वाक्य प्रयुक्त हुए हैं। ओंकार शब्द की यहाँ अत्यधिक मार्मिक व्याख्या की गयी है। इसमें चैतन्य की चार अवस्थाएँ जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और चैतन्य तथा आत्मा की वैश्वानर, तैजस्, प्राज्ञ और शिव आदि चार स्थितियों का प्रभावी वर्णन किया गया है। इसी उपनिषद् के आधार पर

गौड़पादाचार्य ने चार खण्डों वाली **माण्डूक्यकारिका** की संरचना की। इसे विद्वानों ने मायावादी वेदान्त को प्रतिष्ठित करने वाला माना है।

ध्यातव्य है कि उक्त उपनिषदों में ऐतरेय, कौषीतकि, तैत्तिरीय, मैत्रायणी, बृहदारण्यकोपनिषद् तथा छान्दोग्य आदि उपनिषद् ही अत्यधिक प्राचीन माने गए हैं।

(ङ) **वेदाङ्ग–** वेदों के वास्तविक अर्थ को जानने के लिए उपयोगी अंगों को वेदांग कहा जाता है। इनके द्वारा मन्त्रों के अर्थों तथा उनकी व्याख्या एवं यज्ञादि में उनके विनियोग आदि का ज्ञान होता है। आरम्भिक काल में इनकी स्थिति वेदों के अध्ययन में सहयोगी के रूप में थी, किन्तु बाद में स्वतन्त्र अङ्गों के रूप में इनका विकास हुआ। वेदाङ्गों की संख्या छः मानी गयी है, इनका हम यहाँ संक्षेप में परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं–

(क) **शिक्षा–** यह वेदाङ्ग, वेदरूपी पुरुष का 'घ्राण' माना गया है।[1] आचार्य सायण ने इसे इसप्रकार परिभाषित किया है–

स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा[2]

वेदों में स्वरों के शुद्ध उच्चारण का अत्यधिक महत्त्व है। शिक्षा ग्रन्थों में स्वर–वर्णों के शुद्ध उच्चारण की शिक्षा प्रदान की गयी है। प्रातिशाख्य ग्रन्थों में इस विषय का विशेष वर्णन उपलब्ध होता है। वेद की प्रत्येक शाखा से सम्बद्ध नियमों का उल्लेख करने के कारण इन्हें 'प्रातिशाख्य' कहते हैं। मुख्य प्रातिशाख्य ग्रन्थों में– ऋक्प्रातिशाख्य, शुक्ल–यजुः प्रातिशाख्य, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, साम–प्रातिशाख्य, अथर्व–प्रातिशाख्य विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। पुष्पसूत्र और पञ्चविधसूत्र भी सामवेद के प्रातिशाख्य हैं। इसके अलावा पाणिनीय–शिक्षा, याज्ञवल्क्य शिक्षा, व्यास–शिक्षा, नारद–शिक्षा, माण्डूकी–शिक्षा, भारद्वाज–शिक्षा, वसिष्ठ–शिक्षा, पाराशर–शिक्षा आदि 34 शिक्षा ग्रन्थ भी इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध हैं।

---

1. शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य– पाणिनीय शिक्षा।
2. ऋक्भाष्यभूमिका, पृष्ठ– 49 ।

(ख) **व्याकरण–** इसे वेदरूपी पुरुष का 'मुख' माना गया है।[1] 'व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति, व्याकरणम्' परिभाषा के अनुसार व्याकरण द्वारा शब्दों की व्युत्पत्ति का विधान किया गया है, जो किसी भी भाषा का आवश्यक अङ्ग होता है। आचार्य कात्यायन एवं महाभाष्य–कार पतञ्जलि ने व्याकरण के पाँच प्रयोजनों का उल्लेख किया है–

'रक्षोहागमलघ्वसंदेहाः प्रयोजनम्।'

यहाँ **रक्षा** से अभिप्राय वेदों की रक्षा। **ऊह,** से अभिप्राय नए–नए पदों की परिकल्पना करना, **आगम** से अभिप्राय निष्कामभाव से वेदों का अध्ययन करना तथा **लघु** शब्द से संक्षेप में शब्दज्ञान प्राप्त करना एवं **असंदेह** से अभिप्राय संदेहों के निवारण से ग्रहण करना चाहिए। उपलब्ध लगभग दस प्रातिशाख्य ग्रन्थों तथा ऋक्तन्त्र आदि सात अन्य वैदिक व्याकरण के ग्रन्थों में लगभग 59 आचार्यों ने इस वेदाङ्ग को पुष्पित एवं पल्लवित करने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान किया है, जिसे हमेशा याद किया जाता रहेगा।

(ग) **छन्द–** वेदमन्त्रों के ठीक–ठीक उच्चारण तथा ज्ञान हेतु छन्दों की जानकारी आवश्यक है। 'छन्दांसि छादनात्' परिभाषा के अनुसार–'छन्द' मन्त्र के अभिप्राय को आच्छादित करके, उसे समष्टि रूप में प्रस्तुत करते हैं। वेद में वार्णिक छन्दों का प्रयोग हुआ है। वेद मन्त्रों के प्रत्येक पाद अर्थात् चरण में वर्णों की निश्चित संख्या होती है। ऋक्प्रातिशाख्य के तीन (16, 17, 18) पटलों में ऋग्वेद के छन्दों का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसीप्रकार पिङ्गल का छन्दःसूत्र, कात्यायन की छन्दोऽनुक्रमणी तथा सर्वानुक्रमणी विशेषरूप से उल्लेखनीय छन्द विषयक ग्रन्थ हैं।

(घ) **निरुक्त–** वेदों के अर्थों को जानने के लिए, निरुक्त नामक वेदाङ्ग का विशेष महत्त्व है। इसमें वेद में प्रयुक्त शब्दों का निर्वचन–पद्धति से उल्लेख किया गया है। वर्तमान समय में आचार्य यास्क द्वारा विरचित निरुक्त उल्लेखनीय और प्रामाणिक ग्रन्थ माना

---

1. मुखं व्याकरणं स्मृतम्। पाणिनीय शिक्षा ।

गया है। 'निघण्टु' नामक वैदिक शब्दकोष इसका मुख्य आधार है। इसमें वर्णागम, वर्णविपर्यय, वर्णविकार, वर्णनाश, धातु और उसके अर्थातिशय के साथ योग आदि विषयों का मुख्यरूप से प्रतिपादन किया गया है–

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदार्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पंचविधं निरुक्तम्।।

इस प्रसंग में ध्यातव्य यह भी है कि निरुक्त और व्याकरण दोनों ही आपस में गहनरूप से जुड़े हुए हैं। व्याकरण का मुख्य प्रयोजन शब्दों की रचना का बोध कराना है, इससे उनके अर्थों का भी बोध हो जाता है, जबकि निरुक्त शब्दों की व्युत्पत्ति करके, उसके अनेक प्रचलित अर्थों का ज्ञान कराता है। आचार्य यास्क ने अपने पूर्ववर्ती बारह निरुक्तकारों के नामों का उल्लेख किया है। तदनुसार– आग्रायण, औदुम्बरायण, औपमन्यव, और्णवाभ, कात्कथ्य, कौष्टुकि, गार्ग्य, गालव, तैटीकि, वार्ष्यायणि, शाकपूणि, स्थौलाष्ठीवि तथा स्वयं आचार्य यास्क तेरहवें निरुक्तकार हैं।

(ङ) ज्योतिष– इसमें यज्ञों के काल–विधान का उल्लेख किया गया है। वैदिक यज्ञों के मुहूर्त निर्धारण हेतु इस वेदाङ्ग की आवश्यकता का अनुभव किया गया, क्योंकि किसी भी कार्य का आरम्भ शुभ नक्षत्र में करने पर ही उसकी निर्विघ्न समाप्ति तथा उससे उत्तम फलों की प्राप्ति होती है। इसके रचयिता **'आचार्य लगध'** माने गए हैं। ज्योतिष शास्त्र की गणना का आधार बारह राशियाँ हैं, सूर्य, चन्द्र, ग्रह नक्षत्रादि की गति का निरीक्षण एवं विवेचन करना ही इसका प्रमुख विवेच्य है।

(च) **कल्प–** वेदाङ्गों में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'कल्प्यते समर्थ्यते याग प्रयोगोऽत्र इति' इत्यादि परिभाषा के अनुसार इन ग्रन्थों में यज्ञ–विषयक अनुष्ठानों में प्रयोग की जाने वाली विधि के निर्देश प्रदान किए गए हैं। इनकी संख्या चार है– श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र तथा शुल्वसूत्र।

अ) **श्रौतसूत्र–** श्रौत, दर्श, पौर्णमास, सोमयाग, वाजपेयादि यज्ञों के अवसरों पर प्रयुक्त होने वाले सूत्रग्रन्थ ही श्रौतसूत्र कहलाते हैं। सभी संहिताओं के सूत्रग्रन्थों की अलग–अलग रचना की गयी। **जैसे– ऋग्वेदीय–** आश्वलायन एवं शाङ्खायन श्रौतसूत्र। **शुक्ल यजुर्वेदीय–** कात्यायन श्रौतसूत्र। **कृष्णयजुर्वेदीय–** बोधायन, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, वैखानस, भारद्वाज, वराह और मानव श्रौतसूत्र। **सामवेदीय–** आर्षेय, लात्यायन, द्राह्यायन, जैमिनीय श्रौतसूत्र। **अथर्ववेदीय–** वैतान श्रौतसूत्र।

ब) **गृह्यसूत्र–** गृहस्थ जीवन से सम्बन्धित संस्कारों एवं विधियों का वर्णन इन गृह्यसूत्र–ग्रन्थों में किया गया है। अलग–अलग संहिताओं के गृह्यसूत्र इसप्रकार हैं–

ऋग्वेदीय–आश्वलायन, शाङ्खायन एवं कौषीतकि गृह्यसूत्र।
शुक्लयजुर्वेदीय– पारस्कर गृह्यसूत्र।
कृष्ण यजुर्वेदीय–द्राह्यायन, खादिर, जैमिनीय, गौभिल गृह्यसूत्र।
अथर्ववेदीय– कौशिक गृह्यसूत्र।

स) **धर्मसूत्र–** इन ग्रन्थों में आचार–विचार, धर्म, न्याय, नीति–रीति तथा सभी वर्णों के लिए सामाजिक नियमों का उल्लेख किया गया है। वर्तमान समय में उपलब्ध धर्मसूत्र इसप्रकार हैं–

ऋग्वेदीय– वसिष्ठ एवं विष्णु धर्मसूत्र कौषीतकीय धर्मसूत्र।
शुक्ल यजुर्वेदीय– हारीत एवं शंख धर्मसूत्र।
कृष्णयजुर्वेदीय– बौधायन, हिरण्यकेशी तथा आपस्तम्ब धर्मसूत्र।[1]
सामवेदीय– गौतम धर्मसूत्र।

द) **शुल्वसूत्र–** इनमें यज्ञवेदी के निर्माण के सम्बन्ध में जानकारी प्रदान की गयी है। मैक्डॉनल ने इन्हें रेखागणित विषयक सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ बताया है,क्योंकि इनमें ज्यामितीय ज्ञान का उत्कृष्टरूप परिलक्षित होता है। इन्हें भारतीय गणितशास्त्र के प्राचीनतम ग्रन्थ कहा जा सकता है। कात्यायनकृत शुल्वसूत्र (शुक्लयजुर्वेदीय) बोधायन, मानव तथा आपस्तम्बकृत शुल्वसूत्र (कृष्णयजुर्वेदीय) प्रमुखरूप से उपलब्ध हैं।

1. द्रष्टव्य, लेखककृत आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 'चन्द्रिका' हिन्दी व्याख्या व अनुवाद सहित दो खण्डों में, प्रकाशक– चौखम्भा ओरियन्टालिया, दिल्ली, 2021।

(च) अनुक्रमणी साहित्य–वेदाङ्गों के अतिरिक्त वेदों से सम्बद्ध अनुक्रमणिकाओं की भी रचना की गयी, जिनमें ऋषियों, छन्दों, देवताओं आदि विषयों में विस्तारपूर्वक सूचियाँ दी गयी हैं। अनुक्रमणियों को वस्तुतः वैदिक मन्त्रों की क्रमबद्ध सूचियाँ भी कहा जा सकता है। इनके रचयिताओं में आचार्य कात्यायन एवं आचार्य शौनक का नाम विशेषरूप से ग्रहण किया जा सकता है। संहिता ग्रन्थों के अनुसार इनका विवरण इसप्रकार है–

(क) **ऋक्सर्वानुक्रमणी**– इसी को सर्वानुक्रमणी भी कहते हैं, इसका सम्बन्ध ऋग्वेद से है। आचार्य कात्यायन ने इनका सूत्ररूप में लेखन किया है। इसमें ऋग्वेद के प्रत्येक सूक्त का पहला पद, ऋचाओं की संख्या, सूक्तों के ऋषियों, उनके गोत्रों, देवताओं तथा छन्दों का उल्लेख किया गया है। इसकी रचना आचार्य शौनक के पश्चात्, किन्तु आचार्य पाणिनि से पहले हुई है। प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् आचार्य उव्वट ने इसपर भाष्य की संरचना की तथा षड्गुरुशिष्य ने इसकी 'वेदार्थ–दीपिका' नाम से वृत्ति लिखी।

ऋग्वेद की रक्षा के लिए आचार्य शौनक ने– आर्षानुक्रमणी, छन्दोऽनुक्रमणी, देवतानुक्रमणी, अनुवाकानुक्रमणी, सूक्तानुक्रमणी, ऋग्वि–धान, पादविधान, बृहद्देवता, ऋक्प्रातिशाख्य तथा शौनकस्मृति आदि ग्रन्थों की रचना की।

(ख) **ऋक्यजुःसर्वानुक्रमसूत्र**– यह यजुर्वेद की अनुक्रमणियों में सर्वाधिक प्रसिद्ध है। सूत्ररूप में निबद्ध तथा पाँच अध्यायों में विभक्त इसकी रचना आचार्य कात्यायन ने की। इसमें शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा के देवता, ऋषि एवं छन्दों का विस्तृत परिचय दिया गया है। यज्ञ–विधान एवं अनुष्ठानों की भी इसमें चर्चा की गयी है। इस पर महायाज्ञिक श्रीदेव द्वारा विरचित भाष्य भी मिलता है।

इसके अलावा कात्यायन द्वारा विरचित कुछ परिशिष्ट ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं, जिनमें निगम परिशिष्ट, प्रवराध्याय और चरणव्यूह विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं, इनमें से निगम परिशिष्ट को शुक्ल–यजुर्वेद के पर्यायवाची शब्दों का कोश कहा जा सकता है, जबकि प्रवराध्याय में ब्राह्मण कुलों की सूची दी गयी है। चरणव्यूह में वेदों की सभी शाखाओं का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

(ग) **याजुष सर्वानुक्रमणी**– आचार्य यास्क ने कृष्णयजुर्वेद को आधार बनाकर इसकी संरचना की। इसीप्रकार एक 'काण्डानुक्रमणी' भी मिलती है, जिसमें तैत्तिरीय संहिता के काण्डों पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है।

(घ) **सर्वानुक्रमणी**– अथर्ववेद की अनुक्रमणियों में इसका सर्वाधिक महत्त्व है। इसके अन्तर्गत अथर्ववेद के 19 काण्डों तक प्रत्येक काण्ड के सूक्तों, मन्त्रों, ऋषियों, देवताओं तथा छन्दों का पूर्ण विवरण प्रदान किया गया है।

(ङ) **आश्वलायनी अनुक्रमणी**– इसके प्रणेता आचार्य शौनक हैं। इसमें अथर्ववेद के बीसवें काण्ड के सम्बन्ध में मन्त्र, ऋषि, देवता, छन्दादि का विस्तृत विवरण दिया गया है। इसके अतिरिक्त 'पञ्च पटलिका', 'दन्त्योष्ठविधि', 'अथर्वपरिशिष्ट' एवं 'चरणव्यूहसूत्र' आदि ग्रन्थ भी अनुक्रमणी साहित्य के अन्तर्गत परिगणित हैं।

(च) सामवेद की कोई भी अनुक्रमणी उपलब्ध नहीं है, किन्तु इस वेद की अनुक्रमणियों के प्रयोजनों को सिद्ध करने के लिए लिखे गए कुछ ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, जिनमें कल्पानुपद सूत्र, उपग्रन्थ सूत्र, अनुपद सूत्र, निदान सूत्र, उपनिदान सूत्र, पञ्चविधान सूत्र, लघुऋक् तन्त्र संग्रह तथा साम सप्तलक्षण विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।

(छ) ऋग्वेद का रचनाकाल– ध्यातव्य है कि विद्वन्मान्यता चारों वेदों में ऋग्वेद को सर्वाधिक प्राचीन स्वीकार करती है, किन्तु इसके रचनाकाल के सम्बन्ध में विद्वानों में दो मत प्रचलित हैं। **प्रथम** मत के अनुसार वेद अपौरुषेय हैं, अतः इनके रचनाकाल के सम्बन्ध में चिन्तन करना उचित नहीं है, क्योंकि लाखों वर्ष पूर्व सृष्टि के आरम्भ में परम पिता परमेश्वर ने इन्हें प्रकट किया था। स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा

श्री रघुनन्दन शर्मा आदि विद्वान् इस मत को मानने वाले हैं, जबकि **दूसरा** मत इसे मानवकृत मानकर विभिन्न आधारों पर इसके रचनाकाल के सम्बन्ध में विचार प्रस्तुत करता है। उनके अनुसार विश्व के सम्पूर्ण वाङ्मय के समान वेद भी आदि तथा पौरुषेय हैं तथा इसके विभिन्न अंशों की रचना विभिन्न कालों में विभिन्न विद्वानों अर्थात् ऋषियों द्वारा की गयी।

वस्तुस्थिति यह है कि वेदमन्त्र ऋषियों के सुदीर्घकालीन तप का परिणाम हैं, जिनका उन्होंने ईश्वरीय अनुकम्पा से विभिन्न कालों में दर्शन किया, 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः'। आरम्भ में लिपि का विकास न होने से ये **श्रुति–परम्परा** में विद्यमान रहे, इसीलिए इन्हें 'श्रुति' भी कहा जाता है, किन्तु बाद में इन्हें लिपिबद्ध किया गया है। यहाँ हम केवल ऋग्वेद के रचनाकाल के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मत में संक्षेप में विचार प्रस्तुत कर रहे हैं–

विश्व के सर्वाधिक प्राचीन वाङ्मय के रूप में मान्य ऋग्वेद की रचना कब हुई, इस सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने भिन्न–भिन्न दृष्टियों से विचार प्रस्तुत किया है। **जैसे–**

(i) **मैक्समूलर का मत–** इन्होंने 1859 ई. में प्रकाशित अपनी कृति 'प्राचीन संस्कृत साहित्य' के अन्तर्गत वेदों के रचनाकाल के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त किया है, तदनुसार– 'बौद्धधर्म वैदिक वाङ्मय तथा वैदिकधर्म के पूर्व–अस्तित्व को स्वीकार करता है, क्योंकि इस धर्म के मूलग्रन्थ त्रिपिटक, वैदिक वाङ्मय का निर्देश करते हैं। यह भी सत्य है कि इस धर्म का प्रादुर्भाव वैदिकधर्म की प्रतिक्रिया के रूप में ही हुआ, क्योंकि यहाँ पर वैदिक वाङ्मय के ब्राह्मण तथा सूत्र ग्रन्थों में प्रतिपादित यज्ञादि वैदिककर्मों की आलोचना की गयी है।

इस आधार पर कहा जा सकता है कि वैदिक वाङ्मय–संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् तथा कल्पादि बौद्धधर्म के प्रवर्तक महात्मा

बुद्ध से पहले वर्तमान थे। इस सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय के रचनाकाल को उन्होंने चार कालों में विभक्त किया है–

(a) **छन्दःकाल** (b) **मन्त्रकाल** (c) **ब्राह्मणकाल** (d) **सूत्रकाल।**

उनके मत में, प्रत्येक काल की रचनाओं की भाषा तथा विचारधारा के विकास में यदि लगभग 200 वर्षों के समय को स्वीकार किया जाए, तो गौतमबुद्ध के समय षष्ठ शताब्दी ई.पू. के आधार पर वैदिक वाङ्मय की अन्तिम कड़ी सूत्रकाल का आरम्भ 600 ई.पू. मानना संगत प्रतीत होता है। इसीप्रकार यदि 200 वर्ष पीछे की ओर जाएँ तो ब्राह्मण ग्रन्थों आदि का रचनाकाल इसप्रकार सिद्ध होता है–

(a)	छन्दःकाल	1200 ईसा पूर्व से 1000 ईसा पूर्व
(b)	मन्त्रकाल	1000 ईसा पूर्व से 800 ईसा पूर्व
(c)	ब्राह्मणकाल	800 ईसा पूर्व से 600 ईसा पूर्व
(d)	सूत्रकाल	600 ईसा पूर्व के बाद में।

इसप्रकार वैदिक युग के इस प्राचीनतम छन्दःकाल में ही वैदिक मन्त्रों की रचना हुई और ऋग्वेद के मन्त्र सर्वाधिक प्राचीन होने से उनके अनुसार इनके रचनाकाल का आरम्भ 1200 ई.पू. मानना उचित है, किन्तु विद्वानों ने इस मत को इस आधार पर अपनी स्वीकृति प्रदान नहीं की कि– 'वैदिक वाङ्मय के विभिन्न भागों के रचनाकाल में प्रत्येक का समय 200 वर्ष मानना कल्पना पर आधारित है, जिसका खण्डन स्वयं मैक्समूलर ने बाद में 1889 ई. में 'जिफोर्ड व्याख्यान माला' के अन्तर्गत अपने 'भौतिकधर्म' शीर्षक व्याख्यान में इसे केवल अनुमानमात्र कहकर कर दिया है।'

(ii) **मैक्डॉनल का मत–** इसी आधार पर मैकडॉनल ने भी वैदिक युग के आरम्भ तथा बौद्धयुग के प्रारम्भ के मध्य के अन्तराल में सात या आठ शताब्दियों के अन्तर को स्वीकार करते हुए, ऋग्वेद का रचनाकाल 13वीं शती ई.पू. माना है। तदनुसार–

अवेस्ता का प्राचीनतम भाग 800 ई.पू. से पहले का प्रतीत नहीं होता है और यदि इस ग्रन्थ की भाषा को 500 ई.पू. पीछे और ले जाएँ

तो यह ऋग्वेद की भाषा के समान हो जाएगी। इस आधार पर कहा जा सकता है कि ऋग्वेद की भाषा 500 वर्षों में विकसित होकर, अवेस्ता की भाषा के रूप में प्राप्त हो चुकी थी। अतः ऋग्वेद का रचनाकाल 1300 ई.पू. से पहले का नहीं कहा जा सकता है,[1] किन्तु इस मत को भी इस आधार पर विद्वानों की स्वीकृति प्राप्त नहीं हुई कि–

(1) ऋग्वेदीय संस्कृति तथा बौद्धयुगीन संस्कृति के अन्तर के लिए सात या आठ शताब्दियों को पर्याप्त नहीं माना जा सकता है।

(2) इसके अलावा ऋग्वेद की भाषा को 500 वर्षों में अवेस्ता को भाषा के रूप में ग्रहण करने की बात भी कल्पना पर आधारित होने से मान्य नहीं किया जा सकता है।[2]

(iii) **प्रो. जैकोबी का मत–** इन्होंने कल्पसूत्रों में प्रयुक्त विवाह प्रकरण में वर्णित 'ध्रुव इव स्थिरा भव' इत्यादि कथन को आधार बनाकर, ध्रुव की ऐसी स्थिति 2700 ई.पू. के लगभग स्वीकार करते हुए, कल्पसूत्रों का रचनाकाल 2700 ई.पू. मान्य किया है और इसी आधार पर ऋग्वेद का रचनाकाल कल्पसूत्रों से बहुत पूर्व अर्थात् 4500 ई.पू. मानना सङ्गत कहा है। इसप्रकार इन्होंने ज्योतिर्विज्ञान का अवलम्ब लेकर ऋग्वेद के रचनाकाल का प्रयास किया है।

(iv) **शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित का मत–** यह मत भी ज्योतिष शास्त्र के आधार पर प्रस्तुत किया गया है, तदनुसार– शतपथ ब्राह्मण के वर्णन के आधार पर[3] कृतिकाओं को पूर्वीय बिन्दु पर स्वीकार किया गया है, जबकि इस समय ये पूर्वीय बिन्दु पर न होकर, वहाँ से कुछ उत्तर की ओर हटी हुई उदित होती हैं। यह स्थिति ज्योतिषशास्त्र के

1 . द्रष्टव्य– वैदिक रीडर, मैक्डॉनल, इन्ट्रोडक्शन।

2 . ऋक्सूक्तसमुच्चय, डॉ. रामकृष्ण आचार्य, विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा, 1973 पृष्ठ–61।

3 . एवं द्वे त्रीणि चत्वारीति वा अन्यानि नक्षत्राणि। अथैता एवं भूयिष्ठा यत् कृत्तिकास्तदभूमानमेव एतदुपैति तस्मात् कृत्तिकास्वादधीत। एता ह वै प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते। सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्च्यवन्ते।
शतपथब्राह्मण–2/1/2 ।

सिद्धान्त के आधार पर 2500 ई.पू. में सिद्ध होती है। अतः शतपथ ब्राह्मण का रचनाकाल 2500 ई.पू. ठहरता है, जबकि ऋग्वेद तो इससे कहीं अधिक प्राचीन है, इसलिए उसे आज से लगभग 4500 वर्ष पूर्व अर्थात् 3000 ई.पू. और 2500 ई.पू. के मध्य या इससे भी पहले 3500 ई.पू. के लगभग स्वीकार करना उचित प्रतीत होता है।

(v) **लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक का मत–** इस मत में भी ज्योतिष शास्त्र को आधार मानकर, ऋग्वेद के रचनाकाल के निर्धारण का प्रशंसनीय प्रयास किया गया। तदनुसार– शतपथ ब्राह्मण के ही उक्त वर्णन में वसन्त–सम्पात की स्थिति कृत्तिका नक्षत्र पर मानते हुए, ब्राह्मणग्रन्थों का रचनाकाल 4500 वर्षपूर्व अर्थात् 2500 ई.पू. के लगभग स्वीकार किया, साथ ही, इन्होंने ऋग्वेद में वसन्त–सम्पात को मृगशिरा तथा पुनर्वसु इन दो नक्षत्रों पर स्वीकार किया है तथा पुनर्वसु नक्षत्र पर वसन्त सम्पात के काल को ज्योतिषीय गणना के आधार पर 6000 ई.पू. कहा है।[1]

इन्हीं सब आधारों पर इन्होंने वैदिक रचनाओं के आरम्भिक काल का निर्धारण करते हुए ऋग्वेद की रचना को 6000 ई.पू. के लगभग अपनी स्वीकृति प्रदान की है। उल्लेखनीय है कि वसन्त सम्पात की विभिन्न नक्षत्रों पर स्थिति के आधार पर इन्होंने वैदिक वाङ्मय के रचनाकाल को निम्न चार भागों में विभाजित किया है–

(a) **अदिति काल** (6000–4000 ई.पू.)– इस समय वसन्त सम्पात अदिति देवता वाले पुनर्वसु नक्षत्र पर विद्यमान था, जिसे वैदिक युग का आदिकाल कहा जा सकता है। इस समय में कुछ प्रारम्भिक वैदिक रचनाओं का प्रणयन पद्य तथा गद्य में किया गया, जिन्हें देवों के यज्ञ में प्रयुक्त किया जाता था।

(b) **मृगशिरः काल** (4000–2500 ई.पू.)– इस समय वसन्त का सम्पात मृगशिरा नक्षत्र पर स्थित था। ऋग्वेद के अधिकाँश मन्त्रों की

1 द्रष्टव्य– ओरायन, लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक।

रचना इस काल में हुई। अतः वैदिक संस्कृति तथा वैदिक रचनाओं के विकास की दृष्टि से इसका अत्यधिक महत्त्व रहा है।

(c) **कृत्तिका काल** (2500–1400 ई.पू.)– इस समय वसन्त का सम्पात कृत्तिका नक्षत्र पर था,इसलिए इस काल को विभिन्न संहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना के लिए उपयोगी कहा जा सकता है। वेदाङ्ग ज्योतिष को भी वे इसी काल की रचना स्वीकार करते हैं।

(d) **अन्तिम काल** (1400–500 ई.पू.)– इस समय में विभिन्न कल्पसूत्रों और दर्शनसूत्रों का प्रणयन किया गया। वस्तुस्थिति तो यह है कि इसी काल में वैदिकधर्म की प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप बौद्ध धर्म का आविर्भाव हुआ।

उक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि बालगङ्गाधर तिलक ऋग्वेद के रचनाकाल का आरम्भ 4000 ई.पू. के लगभग मानने के पक्षधर रहे हैं।

(vi) **अविनाश चन्द्र दास का मत**– इन्होंने ऋग्वेद के ही साक्ष्य को प्रस्तुत करते हुए, इसकी रचना 25000 ईसा पूर्व में मान्य की है। तदनुसार– ऋग्वेद में प्रयुक्त वर्णनों के आधार पर कहा जा सकता है कि यहाँ वर्णित चार समुद्रों में से एक समुद्र की स्थिति पंजाब से दक्षिण की ओर राजपूताना में प्रतीत होती है,[1] जिसमें सरस्वती तथा सिन्धु नदियाँ गिरती थीं, किन्तु वर्तमान में यह समुद्र नहीं है, जबकि भूगर्भशास्त्री इस समुद्र की स्थिति को ईसा से 25000 वर्ष पूर्व स्वीकार करते हैं। इस आधार पर कहा जा सकता है कि इस समुद्र तथा इसमें गिरने वाली उक्त दोनों नदियों का उल्लेख करने वाले ऋग्वेद को वस्तुतः ईसा से लगभग 25000 वर्ष पूर्व की रचना मानना संगत प्रतीत होता है।[2]

[1] . रायः समुद्राँश्चतुरोऽस्मभ्यं सोम विश्वतः। आ पवस्व सहस्रिणः।
ऋ.–9/33/6।
एका चैतत् सरस्वती नदीनां शुचिर्यती गिरिभ्य आ समुद्रात्। ऋ.–7/95/2।

[2] . [illegible]क इण्डिया, अविनाशचन्द्रदास।

उक्त मतों के अतिरिक्त भी कुछ विद्वानों ने ऋग्वेद के रचना काल के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किए है। तदनुसार–

(a) एशिया माइनर तथा बोगाज़कोई आदि स्थानों पर मिले प्रमाणों के आधार पर 'ह्यूगो विंकलर' नामक विद्वान् ने वैदिक सूक्तों की रचना के सम्बन्ध में अपनी स्वीकृति 1400 ई.पू. के लगभग प्रदान की है।

(b) इसीप्रकार ऋग्वेद में प्राप्त कुछ भौगोलिक तत्त्वों को आधार बनाकर, प्रो. बुलर ने ऋग्वेद का रचनाकाल 1500 से 1200 ई. के मध्य सुनिश्चित किया है।

(c) अनेक पाश्चात्त्य विद्वानों से असहमति व्यक्त करते हुए प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् आचार्य बलदेव उपाध्याय ने वेदों का रचनाकाल 3000 ई.पू. माना है।[1]

(d) जबकि प्रो. हॉग ने ज्योतिष को आधार बनाकर, सम्पूर्ण वैदिक साहित्य के काल के निर्धारण का प्रयास किया है। तदनुसार– वैदिक संहिताएँ 2000–1400 ई.पू. में निबद्ध की गयीं, इस आधार पर मन्त्रों की रचना का समय 2400–2000 ई.पू. के लगभग मानना उचित प्रतीत होता है।

(e) भूगर्भशास्त्र के आधार पर नारायण राव भवनराव पारगी ऋग्वेद को 9000 वर्ष पूर्व की रचना स्वीकार करने के पक्षधर हैं।

(f) प्रो. अमल नरेकर ने प्रसिद्ध लेखक एच. जी. वेल्स की पुस्तक 'आउट लाइन ऑफ वर्ल्ड हिस्ट्री' के आधार पर ऋग्वेद का रचनाकाल 66000–75000 वर्ष पूर्व में प्रतिपादित किया है।

(g) किन्तु प्रो. लौटूसिंह ने सनातनी ऐतिहासिक प्रमाणों को आधार बनाकर ऋग्वेद की रचना 4 लाख 35 हजार वर्ष पुरानी स्वीकार की है।[2]

[1] .वैदिक साहित्य और संस्कृति, पं. बलदेव उपाध्याय, प्रकाशक– शारदा मन्दिर, काशी, 1967।

[2] . वैदिक साहित्य पं. रामगोविन्द त्रिवेदी, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1950।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि विद्वानों ने ऋग्वेद के रचनाकाल के सम्बन्ध में विभिन्न मतों को प्रस्तुत किया है, किन्तु फिर भी आजतक इस विषय में मतैक्य स्थापित नहीं हो सका है, वस्तुस्थिति तो यही है कि वेदों को विश्व की सर्वाधिक प्राचीन रचना के रूप में मान्य करना ही उचित प्रतीत होता है, क्योंकि यह समय ईसा से 25–39 हजार वर्ष पूर्व भी सम्भव है। हाँ, इस समय तक अग्नि का आविष्कार हुए भी लम्बा समय व्यतीत हो चुका था, तभी तो वैदिक ऋषि पूर्व में वेदमन्त्रों से केवल देवों की स्तुति करते थे, किन्तु अग्नि के आविष्कार के बाद वे इन मन्त्रों का उच्चारण करके यज्ञ में हविष् प्रदान करते थे।

(ज) ऋग्वेद के भाष्यकार– जब वेद अस्तित्व में आए, तब ये अर्थ की दृष्टि से बोधगम्य थे, किन्तु कुछ समय के बाद, इनके अर्थों को समझने में कठिनाई का अनुभव किया जाने लगा, जिसे दूर करने के लिए विद्वानों ने इसकी व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं, जिन्हें भाष्य कहा गया, जबकि व्याख्या करने वाले विद्वान् **'भाष्यकार'** कहलाए। ऋग्वेद के अर्थों को समझाने के लिए अनेक विद्वानों ने भाष्यों का प्रणयन किया, जिनका हम यहाँ अत्यन्त संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं–

(1) **स्कन्द स्वामी–** ऋग्वेद के भाष्यकारों में स्कन्दस्वामी का नाम अग्रगण्य है, इन्होंने लगभग 625 ई. में ऋग्वेद पर सरल संस्कृत में भाष्य की संरचना की। कुछ खण्डितरूप में यह भाष्य आज भी उपलब्ध है। आचार्य सायण ने भी अपने भाष्य में अनेक स्थलों पर इनके नाम का उल्लेख किया है। इन्होंने आचार्य यास्क के निरुक्त पर भी विद्वत्ता पूर्ण टीका का प्रणयन किया था।

स्कन्दस्वामी ने ऋग्वेद पर वस्तुतः विस्तृतरूप में भाष्य किया है। इसके प्रत्येक सूक्त के आरम्भ में ऋषि तथा देवता का उल्लेख किया गया है और स्थान–स्थान पर निघण्टु तथा निरुक्त आदि वैदिक अर्थों में उपयोगी ग्रन्थों को प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया है, जिससे इस भाष्य की महत्ता स्वतः ही बढ़ जाती है। उल्लेखनीय है कि यह भाष्य ऋग्वेद के चतुर्थ अष्टक तक ही मिलता है। इसका प्रकाशन विश्वेश्वरानन्द

वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर द्वारा दूसरे कुछ भाष्यों के साथ किया गया है। यह भाष्य अत्यधिक सरल तथा संक्षिप्त है, जिसमें अनावश्यक विस्तार को महत्ता प्रदान नहीं की गयी है। इसलिए विद्वानों में यह अत्यधिक लोकप्रिय भी हुआ।

(2) **वेंकटमाधव–** इन्होंने सम्पूर्ण ऋग्वेद पर भाष्य की संरचना की। विद्वानों ने इनका समय 1050–1150 ई के लगभग माना है। ऋग्वेद के प्रथम अध्याय के अन्त में इन्होंने अपना परिचय विस्तारपूर्वक प्रस्तुत किया है। तदनुसार– इनके पिता वेंकटाचार्य तथा माता सुन्दरी देवी थीं। इनके पितामह का नाम माधव तथा मातामह का नाम भवगोल था। ये कौशिक गोत्र में उत्पन्न हुए थे, इनका संकर्षण नामक एक छोटा भाई भी था तथा वेंकट और गोविन्द नाम के दो पुत्र थे, इनका मूल निवासस्थान दक्षिण पथ का चोल प्रदेश था।[1]

यह भाष्य अत्यधिक संक्षिप्त है, इसमें ऋग्वेद के मूल पदों का प्रयोग करते हुए, संक्षिप्त करने की दृष्टि से केवल पर्यायवाची पदों का प्रयोग करके, मन्त्र की भावना को प्रदर्शित करने का प्रयास किया है। इतना ही नहीं, स्थान–स्थान पर ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रमाणों से भाष्य की महत्ता में अत्यधिक श्रीवृद्धि हुई है। इनका मानना है कि वेदों के गूढ़ अर्थ को समझने के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों का अध्ययन नितान्त उपयोगी है। इसका प्रकाशन विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर तथा मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली से हुआ है।

(3) **उद्गीथ–** इन्होंने ऋग्वेद के अन्तिम भाग पर अपने भाष्य की रचना की है तथा स्कन्दस्वामी के भाष्य में भी इन्होंने सहयोग किया था, ऐसा वेंकटमाधव ने अपने भाष्य में उल्लेख किया है। प्रत्येक अध्याय की समाप्ति पर इन्होंने अपना सम्बन्ध 'वनवासी' प्रान्त के साथ बताया है।[2] इस आधार पर कहा जा सकता है कि ये कर्नाटक के पश्चिम भाग, जिसे प्राचीनकाल में 'वनवासी प्रान्त' कहा जाता था, के निवासी थे। इनकी भाषा शैली स्कन्दस्वामी के भाष्य से अत्यधिक

1. ऋग्भाष्य, अनन्तशयन ग्रन्थावली, भूमिका, पृष्ठ–7, 8।
2. वनवासीविनिर्गताचार्यस्य उद्गीथस्य कृता ऋग्वेदभाष्ये अध्यायः समाप्तः।

साम्य रखती है। इसका प्रकाशन ऋग्वेद के दूसरे भाष्यों के साथ ही विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर से हुआ है।

(4) **आचार्य सायण**– यह नाम ऋग्वेद के भाष्यकारों में अत्यन्त सम्मान के साथ लिया जाता है। ये विजयनगर के संस्थापक महाराज बुक्क तथा महाराज हरिहर के अमात्य और सेनानी थे। इसलिए इनका समय 14वीं शती माना गया है। इन्होंने न केवल चारों वेदों पर प्रामाणिक भाष्यों की संरचना की, अपितु ब्राह्मणों, आरण्यकों पर भी विस्तृत भाष्यों का प्रणयन किया। भरद्वाज गोत्र में उत्पन्न इनके पिता का नाम मायण तथा माता का नाम श्रीमती था। श्रीकण्ठ इनके गुरु थे। इनके बड़े भाई का नाम माधव था, इन्होंने भी अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। आचार्य सायण 72 वर्ष की आयु में अर्थात् 1387 ई. में परलोकवासी हो गए थे।

उल्लेखनीय है कि विशाल वैदिक वाङ्मय तथा संस्कृत का गहन अध्ययन करने के बाद ही इन्होंने अपने भाष्यों की संरचना की। इनके इस महत्त्वपूर्ण कार्य में पं. नरहरि सोमयाजी, नारायण वाजपेय याजी, पण्ढरी दीक्षित आदि अनेक वैदिक विद्वानों ने चिरस्मरणीय सहयोग प्रदान किया। यह भी सुनिश्चित है कि भाष्यों को लिखने से पहले इन्होंने अपने पूर्ववर्ती भाष्यों का गहनता से अध्ययन किया था। आचार्य यास्क, स्कन्दस्वामी, उद्‌गीथ आदि के नामों का उनके मतों के साथ उद्धृत करना, इस कथ्य की पुष्टि के प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

आचार्य सायण ने वेदों की यज्ञपरक व्याख्या की है, इसीलिए पाश्चात्य वैदिक भाष्यकारों ने इन्हें याज्ञिक भाष्यकार की संज्ञा प्रदान की है। वस्तुतः भाष्यकारों ने वेदमन्त्रों की व्याख्या तीन दृष्टियों से प्रस्तुत की है– आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक। सायण ने आधिदैविक अर्थों को आधार बनाकर, कर्मकाण्ड को प्रधानता देते हुए अपने सभी भाष्यों का प्रणयन किया। वर्तमान समय में उपलब्ध भाष्यों में सायण भाष्यों को ही पूर्ण तथा प्रामाणिक माना गया है। इसीलिए पश्चात्वर्ती वेदभाष्यकारों ने सायण को अपने–अपने भाष्यों के आधार

रूप में स्वीकार किया है। यहाँ तक कि अनेक पाश्चात्य वेद भाष्यकारों ने उन्हें अपना आदर्श मानकर वेदों की व्याख्या प्रस्तुत की हैं।

(5) **स्वामी दयानन्द**– आचार्य सायण के बाद वेदभाष्यकारों में स्वामी दयानन्द का महत्त्वपूर्ण स्थान है। काठियावाड़ के टङ्कारा नामक नगर में संवत् 1881 में उत्पन्न स्वामी दयानन्द के बचपन का नाम 'मूलचन्द' था। शिवरात्रि के दिन शिवलिङ्ग पर आरूढ़ चूहे को देखकर, इन्हें बोध हुआ और इन्होंने किशोरावस्था में ही घर का परित्याग कर दिया और मथुरा में रहकर **गुरु विरजानन्द** से वेदों की शिक्षा ग्रहण की। बाद में, इन्होंने शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा तथा ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के दूसरे सूक्त के दूसरे मन्त्र तक अपने भाष्य का प्रणयन भी किया। ध्यातव्य है कि इनके द्वारा वेद की व्याख्या, प्राचीन परिपाटी से हटकर की गयी है। उनकी अकाल मृत्यु के कारण यह कार्य पूरा नहीं हो सका। उन्होंने वेद के मन्त्रों का विज्ञान, कर्म, उपासना तथा ज्ञान की दृष्टि से अर्थ किए हैं।

उपरोक्त भाष्यकारों के अलावा नारायण, धानुष्कयज्वा, आनन्द तीर्थ, आत्मानन्द आदि की भी ऋग्वेद के प्राचीन भाष्यकारों में गणना की जाती है, जबकि स्वामी दयानन्द के बाद आर्यमुनि, सातवलेकर, कपालिशास्त्री तथा श्रीराम शर्मा आदि ने भी हिन्दी माध्यम से वेदों के अर्थों को प्रस्तुत किया है, साथ ही, अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने भी इस दिशा में प्रशंसनीय कार्य किया, जिनका हम यहाँ अत्यन्त संक्षेप में विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं–

(1) **फ्रीड्रिक रोज़न**– इन्होंने ऋग्वेद के प्रथम अष्टक का लैटिन भाषा में 1838 ई. में अनुवाद करके प्रकाशित कराया, इनकी आकस्मिक मृत्यु के कारण यह कार्य अवरुद्ध हो गया।

(2) **मैक्समूलर**– इन्होंने 3000 से अधिक पृष्ठों में 27 वर्षों में कठोर परिश्रम के बाद, सायणभाष्य सहित विस्तृत भूमिका के साथ, सम्पूर्ण ऋग्वेद 1876 ई. में प्रकाशित कराया, जबकि इसका दूसरा संस्करण 1890–92 में प्रकाशित हुआ।

(3) **विल्सन–** इन्होंने 1850 ई. में सर्वप्रथम अंग्रेजी भाषा में अनुवाद प्रस्तुत किया, जो सायणभाष्य पर आधृत रहा है।

(4) **ग्रासमान–** इन्होंने जर्मन भाषा में सम्पूर्ण ऋग्वेद का सायण विरोधी पद्यानुवाद 1876–77 ई. में प्रकाशित कराया, इसमें इन्होंने स्वतन्त्र तुलनात्मक पद्धति को स्वीकार किया है।

(5) **ग्रिफ़िथ–** इसीप्रकार आचार्य सायण के भाष्य को आधार बनाकर, इन्होंने सम्पूर्ण ऋग्वेद तथा दूसरे तीनों वेदों का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया है, इसका प्रकाशन 1872 ई. में वाराणसी से हुआ है।

(6) **प्रो. ओल्डेनबर्ग–** जर्मन भाषा में लिखा गया यह भाष्य अत्यधिक विस्तृत है, इसीलिए विद्वानों ने इसे महाभाष्य की संज्ञा प्रदान की है। इसका प्रकाशन 1909 से 1912 ई. के मध्य कराया गया। इसमें वैदिक समालोचना का उत्कृष्ट स्वरूप देखने को मिलता है। इस भाष्य का वैदिक व्याख्या के क्षेत्र में वही स्थान है, जो वेदान्त के क्षेत्र में शंकराचार्य का रहा है।

(7) **लुडविग–** इन्होंने सायण भाष्य को आधार बनाकर, ऋग्वेद का गद्य में अनुवाद कुल छः भागों में प्रकाशित कराया है।

(8) **रॉथ–** ये वेदों की व्याख्या के क्षेत्र में नए सिद्धान्तों के जन्मदाता माने गए हैं, इन्होंने सायण भाष्य का विरोध करते हुए, वेद मन्त्रों की व्याख्या के लिए, वेदों के अन्दर से ही प्रमाण खोजने की आवश्यकता प्रतिपादित की है। इतना ही नहीं, शब्दों का अर्थ करते समय संदर्भ, व्याकरण तथा व्युत्पत्ति पर भी अत्यधिक बल दिया है। इन्हीं सिद्धान्तों को आधार बनाकर, इन्होंने विशाल आकार वाले प्रसिद्ध सेन्टपिटर्सवर्ग' नामक 'संस्कृतजर्मनकोष' की संरचना वाटलिंक के सहयोग से की है।

उपरोक्त विद्वानों के अतिरिक्त वेदों के पाश्चात्य व्याख्याकारों में **डॉ. आर्नल्ड, बेबर, श्रोडर, कीथ, स्टेवेन्सन, बर्नेल, विन्टरनित्ज़, ह्विटनी, ब्लूमफील्ड, मैक्डॉनल तथा पीटर्सन** आदि विद्वानों के नाम भी विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।

(झ) **संवादसूक्त–** इसी प्रसंग में यह बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद के संवाद–सूक्तों के अन्तर्गत कुछ आख्यानात्मक सामग्री उपलब्ध होती है, इनका सम्बन्ध उस समय में प्रचलित कथाओं अथवा वास्तविक घटनाओं के साथ रहा है। इसीलिए इन्हें 'आख्यान सूक्त' संज्ञा भी प्रदान की गयी है। ये सूक्त परवर्ती नाट्य साहित्य यहाँ तक कि महाकाव्यों को भी जोड़ते हैं। इन सूक्तों में ऋचाएँ विभिन्न पात्रों के संवादों के रूप में प्रयुक्त हुई हैं।

ऋग्वेद की दूसरी सामग्री से सर्वथा विलक्षण होने के कारण इन सूक्तों ने आधुनिक विद्वानों को अत्यधिक प्रभावित किया है। यही कारण है कि इनके स्वरूप के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों ने तीन सिद्धान्त निर्धारित किए हैं–

(1) प्रो. ऑल्डनवर्ग की मान्यता है कि ये सूक्त प्राचीन भारत के गद्य तथा **पद्यात्मक आख्यानों के अवशेष** हैं। इन आख्यानों में वक्ताओं का कथन पद्य में रहता है, जबकि सम्बद्ध घटनाएँ गद्य में निबद्ध की जाती हैं। आरम्भ में इनके केवल पद्यों को कण्ठस्थ किया जाता था, जिनकी परम्परा वंश के अनुसार चलती थी, जबकि गद्य–कथा को प्रत्येक कथावाचक अपने ही शब्दों में प्रस्तुत करता था।

इसप्रकार के आख्यानों को हम ऐतरेय ब्राह्मण के हरिश्चन्द्रोपाख्यान (अध्याय–33) में या फिर नीतिकथाओं में देख सकते हैं। ऋग्वेद के संवाद–सूक्तों में तो इनका केवल पद्यभाग ही बचा हुआ है। ध्यातव्य है कि यहाँ पर गद्य भाग को छोड़ देने का कारण ऋग्वेद का छन्दोबद्ध स्वरूप ही रहा है। यही मान्यता विद्वानों में लम्बे समय तक प्रचलित रही।[1]

(2) जबकि मैक्समूलर, सिलवाँ लेवी, हर्टेल तथा श्रोदर आदि विद्वानों की इस विषय में मान्यता है कि ये संवाद–सूक्त एक प्रकार के **नाटकों के अवशेष** हैं। धार्मिक पूजा अर्थात् यज्ञ–यागादि के अवसर पर इनका मंचन किया जाता था, जिससे क्लान्त तथा नीरस वातावरण से

1. ऋक्सूक्तनिकरः, डॉ. उमाशंकर 'ऋषि', चौखम्भा ओरियन्टालिया, दिल्ली, 2019। भूमिका, पृष्ठ–69 ।

परेशान पूजा करने वाले पुरोहितों तथा दर्शकों का मनोरञ्जन होता था। इन नाटकों के पद्यात्मक संवादों में यथोचित नाटकीय हावभाव भी विद्यमान रहता था, जिनके संकेत हमें इन्हीं में प्राप्त होते हैं।

(3) इसके अतिरिक्त विन्टरनित्ज़ ने उक्त दोनों ही मान्यताओं का निराकरण करते हुए, इन्हें **लोकगीत के रूप** में प्रचलित वीरकाव्य का अंश स्वीकार किया है। उनके अनुसार इसप्रकार के अर्धकथात्मक तथा अर्धरूपात्मक काव्य हमें रामायण, महाभारत और बौद्ध साहित्य में विशेषरूप से मिलते हैं। इसीलिए इन सूक्तों को महाकाव्य तथा नाटक इन दोनों ही विधाओं के विकास के मूलस्रोत के रूप में स्वीकार किया गया है। वस्तुतः इनके आख्यानात्मक भाग से महाकाव्यों का, तो नाटकीय भाग से रूपकों का उद्भव हुआ, किन्तु हो सकता है कि इन सूक्तों की ऋचाओं को आगे–पीछे जोड़ने के लिए गद्यभाग भी रहा हो, जैसा कि ओल्डनवर्ग भी मानते हैं। अब हम यहाँ कुछ प्रमुख संवाद–सूक्तों का संक्षेप में परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं–

(i) **पुरुरवा–उर्वशी संवाद**– संवाद–सूक्तों में यह सर्वाधिक प्रसिद्ध है, इसमें त्रिष्टुप् छन्द में निबद्ध कुल 18 ऋचाओं का प्रयोग हुआ है। 1, 3, 6, 12, 14 तथा 17 इन छः ऋचाओं में पुरुरवा तथा शेष में उर्वशी के कथन का उल्लेख है। यहाँ उर्वशी एक अप्सरा है, जबकि पुरुरवा एक मानव राजा है। उर्वशी चार वर्षों तक उसकी पत्नी के रूप में पृथ्वी पर रहती है तथा गर्भवती होने पर राजा को छोड़कर चली जाती है। राजा उसे खोजते हुए, एक सरोवर के पास जाता है, जहाँ वह हंसी के रूप में दूसरी अप्सराओं के साथ क्रीड़ा कर रही है। ऋग्वेद के आख्यान में केवल इतना ही अंश वर्णित हुआ है।

किन्तु शतपथ ब्राह्मण (11/5/1) में यह आख्यान विस्तार से वर्णित है, जिसमें ऋग्वेद के उद्धरण भी प्रस्तुत किए गए हैं। तदनुसार, पुरुरवा से विवाह से पहले उर्वशी ने उसके समक्ष तीन शर्तों को रखा था, जिनमें एक उसे कभी भी नग्नरूप में न देखने की थी। उर्वशी क्योंकि गन्धर्वलोक की अप्सरा थी, इसलिए गन्धर्व इसे अपने लोक में

ले जाना चाहते थे। इसलिए उन्होंने उर्वशी के पुत्रवत् पाले गए, उसकी शय्या से बँधे, दो मेमनों को रात्रि में चुरा लिया।

जागने पर उर्वशी, पुरुरवा के समक्ष रोने लगी तब वह, विलम्ब होने के डर से नग्नरूप में ही चोरों के पीछे दौड़ पड़ा, उसी समय गन्धर्वों ने विद्युत् का प्रकाश कर दिया। परिणाम स्वरूप उसे नग्नरूप में देखने पर उर्वशी अदृश्य हो गयी। दुःख से व्याकुल पुरुरवा भटकने लगा, एक दिन सरोवर के तट पर हंसीरूप में उसे वह दिखायी दी। इन दोनों का यह संवाद वहीं पर होता है। ऋग्वेद में प्रयुक्त 18 ऋचाओं में से 15 को इस व्याख्या के प्रसंग में यहाँ पर दिया गया है।

पुरुरवा, उर्वशी को लौटाने का अत्यधिक प्रयास करता है, यहाँ तक कि आत्महत्या करने की बात भी कहता है, किन्तु उर्वशी पर इन बातों का कोई फर्क नहीं पड़ता है। यह आख्यान वस्तुतः असफल प्रेम के मार्मिकरूप की प्रस्तुति कहा जा सकता है। यही कारण है कि काठक संहिता, हरिवंश पुराण, विष्णु पुराण, कथासरित्सागर और नाटककार कालिदास ने 'विक्रमोर्वशीयम्' नाटक में इस कथा को किंचित् परिवर्तन के साथ प्रस्तुत किया है।

(ii) **यम–यमी संवाद**– ऋग्वेद के दशम मण्डल के दशम सूक्त की चौदह ऋचाओं में यह संवाद वर्णित है, तेरहवीं ऋचा को छोड़कर शेष सभी में त्रिष्टुप् छन्द का प्रयोग हुआ है। 1, 3, 5, 6, 7, 9, 11 तथा 14 मन्त्रों का प्रयोग यमी के कथनरूप में तथा शेष ऋचाओं को यम के कथनरूप में प्रयुक्त किया गया है। ऋषि तथा देवता दोनों ही दृष्टियों से यम–यमी का कथन हुआ है. ये दोनों विवस्वत् के जुड़वाँ पुत्र–पुत्री अर्थात् भाई–बहनें हैं। वस्तुतः इस आख्यान में सृष्टि के आरम्भ में एक ही 'उत्स' से उत्पन्न होने वाले, पुरुष तथा स्त्री तत्त्वों के परस्पर समागम की गाथा को निबद्ध किया गया है।

यद्यपि इस सूक्त की परवर्ती साहित्य में किसी प्रकार की चर्चा नहीं हुई है, किन्तु फिर भी अनैतिकता मूलक कामावेग पर नैतिकता की विजय के रूप में इसे देखा जा सकता है, जिससे ऋग्वेद में लोक साहित्य की भी पुष्टि होती है। यहाँ ऋषि ने भाई–बहन के शारीरिक

सम्बन्धों को सर्वथा अनुचित ठहराने का सफल प्रयास किया है, जिसे तात्कालिक समाज की प्रबल समस्या के रूप में भी देखा जा सकता है। इसकी कथा इसप्रकार है–

यमी, मित्ररूप में यम से उसमें गर्भ की स्थापना की प्रार्थना करती है, किन्तु वह इस सम्पर्क का पक्षधर नहीं है, क्योंकि सहोदर बहन अग्राह्या होती है। प्रदेश में असुरों के महान् तथा बलवान् पुत्र लोकों को धारण करते हुए, सम्पूर्ण घटनाक्रम को देखते रहते हैं। यमी मनुष्यों के लिए इस सम्बन्ध को त्याज्य ठहराती है, किन्तु देवों में इसे मान्य कहती है, क्योंकि वे तो इस सम्बन्ध की अभिलाषा रखते हैं। इसपर यम अपने द्वारा कभी भी असत्कर्म न करने तथा अनृत के मार्ग पर न चलने की बात कहता है, जिसे यमी स्वीकार नहीं करती है।

इसके उत्तर में वह यही कहती है कि विश्वरूप सविता तथा त्वष्टा ने हमें गर्भ में ही दम्पती बना दिया है, इस नियम को तो कोई भी तोड़ नहीं सकता है, इस बात को पृथ्वी तथा द्युलोक भी जानते हैं। इतना ही नहीं, वह किसी के द्वारा उन्हें न देखने की बात का भी कथन करती है। उत्तर में यम उसे यही समझाता है कि तुम तो किसी समर्थ युवक को अपनी बाहों का सहारा दो, मुझसे भिन्न किसी भी पुरुष को पतिरूप में वरण कर लो।

यमी अनेक प्रकार से उसकी आलोचना करती है, किन्तु इससे वह तनिक भी विचलित नहीं होता है और अपनी ही बात पर दृढ़ रहता है। इसप्रकार यह संवाद वस्तुतः कामावेग पर सच्चरित्रता की विजय के रूप में देखा जा सकता है।

(iii) **सरमा–पणि संवाद**– ऋग्वेद के दशम मण्डल के 108 वें सूक्त में त्रिष्टुप् छन्द में निबद्ध कुल ग्यारह ऋचाओं में यह संवाद प्रयुक्त हुआ है। 'पणि' वस्तुतः देवताओं अर्थात् आर्यों के शत्रु थे, वाणिज्य व्यापार आदि से वृद्धि प्राप्त करके, उन्होंने अनेक दुर्गों का निर्माण कर लिया था, इसी मद में डूबे हुए ,उन्होंने देवों की गायों को चुराकर, रसा नामक विशाल नदी के पार स्थित द्वीप में छिपाकर रख दिया था, जिनकी खोज के लिए, देवों ने 'सरमा' नामक अपनी दूती को भेजा।

उल्लेखनीय है कि यहाँ पर सरमा को अनुक्रमणियों में देवों की 'कुतिया' कहा गया है, जो सङ्गत प्रतीत नहीं होता है, सम्भवतः सूँघने के कारण कुत्तों की अन्वेषण क्षमता अधिक होती है, इसी दृष्टि से इसे लाक्षणिक प्रयोग के रूप में **प्रतीकात्मक संवाद** भी कहा जा सकता है। अन्त में, सरमा ने गायों का पता लगा लिया तथा पणियों से देवों को इन्हें लौटाने का आग्रह किया। उन्होंने अनेक प्रलोभन देकर सरमा को अपने वश में करना चाहा तथा बाद में अपनी क्षमता एवं शक्ति के आधार पर उसे आतङ्कित भी किया, किन्तु सरमा पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

इस दृष्टि से यह संवाद राजनीतिक दाँवपेच के सुन्दर उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है। इस सूक्त की 1, 3, 5, 7 तथा 9 संख्या वाली ऋचाओं के वक्ता पणि हैं, जबकि शेष ऋचाएँ सरमा द्वारा कही गयी हैं। यह संवाद इसप्रकार है–

पणि पूछते हैं कि यह सरमा इतनी दूर क्यों आयी है? रसा नदी के जल को इसने भला कैसे पार किया होगा? तब सरमा कहती है कि– इन्द्र की दूती बनकर मैं तुम्हारी निधियों की लालसा से यहाँ पर विचरण कर रही हूँ। अतिक्रमण के भय से स्वयं रसा ने मुझे मार्ग प्रदान किया है। इसपर पणि इन्द्र के स्वरूप के प्रति जिज्ञासा प्रदर्शित करते हैं तथा उनसे मित्रता की इच्छा व्यक्त करते हुए, गोधन के सह–स्वामित्व का प्रलोभन भी देते हैं।

इसपर सरमा उग्र होकर इन्द्र की प्रशंसा करती है और कहती है कि इन्द्र को गहरी नदियाँ भी रोक नहीं सकती हैं, इसलिए हे पणियों! तुम सभी मारे जाओगे। पणि इससे भयभीत न होकर इन्द्र के साथ युद्ध की इच्छा व्यक्त करते हैं। इसपर वह देवगुरु बृहस्पति के कठोर व्यवहार के विषय में भी कहती है, किन्तु इस सबसे अप्रभावित पणि, सरमा की यात्रा की निरर्थकता की बात करते हैं।

तभी देव-पुरोहितों द्वारा पणियों की सम्पत्ति के विभाजन की भविष्यवाणी की जाती है, तो पणियों का नेता, सरमा को अपनी बहन मानते हुए, उसे अपने साथ रहने का प्रलोभन देता है, किन्तु सरमा उसके सभी प्रस्तावों को ठुकरा देती है और उन्हें इन्द्र तथा अंगिरस की भयंकरता की बात कहकर डराती भी है और कहती है कि-

'यदि तुम यहाँ से किसी सुरक्षित स्थानों पर भाग सको तो भाग जाओ, अन्यथा तुम सभी के प्राण विनष्ट हो जाएँगे।'

इसप्रकार हम देखते हैं कि प्रस्तुत संवाद-सूक्त में भी तात्कालिक सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था का मिलाजुला रूप दृष्टिगोचर होता है, जिसे वैदिक कवि ने अत्यन्त मनोरंजनात्मक रूप में प्रस्तुत किया है, साथ ही, तात्कालिक समाज में गायों और दूत के महत्व को भी यहाँ प्रदर्शित किया गया है।

(iv) **विश्वामित्र-नदी संवाद-** यह संवाद ऋग्वेद का 3/33 सूक्त है, इसकी कुल 13 ऋचाओं में से प्रथम 12 में त्रिष्टुप् छन्द तथा अन्तिम मन्त्र में अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग हुआ है। इसमें पंजाब प्रदेश की दो नदियों 'विपाशा' तथा 'शुतुद्रि' का मानवीकरण करके, ऋषि विश्वामित्र के साथ उनका वार्तालाप वर्णित हुआ है। निरुक्त (2/24) में इस अंश की व्याख्या करते हुए, इससे सम्बद्ध एक आख्यान दिया गया है, वहाँ पर इसकी तीन ऋचाओं (3/33/5, 6, 10) की व्याख्या भी उद्धरण देते हुए की गयी है।

निरुक्त में प्रदत्त इतिहास इसप्रकार है- ऋषि विश्वामित्र दिवोदास के पुत्र सुदास के पुरोहित थे। वे धन लेकर अर्थात् पुरोहित को दी जाने वाली दक्षिणा से प्रेरित होकर, विपाशा तथा शुतुद्रि नदियों के संगम पर, अपने यजमान की सेना के आगे-आगे चलते हुए आए तथा उन नदियों से अपना जल-प्रवाह नीचा करने की प्रार्थना की, जिससे उनके यजमान की सेना सरलता से पार उतर सके।

उनकी इस प्रार्थना को नदियाँ इसलिए स्वीकार नहीं कर पाती हैं, क्योंकि इन्द्र ने तो उन्हें हमेशा प्रवाहशील रहने के लिए बनाया है।

विश्वामित्र ने भी एक राजनीतिज्ञ के समान, इन्द्र का वर्णन करते हुए, नदियों को प्रसन्न करने का कार्य जारी रखा, अन्त में नदियों को उनकी प्रार्थना मानकर नीचा होना पड़ा तथा सेना ने सरलता से उन्हें पार कर लिया।

इस प्रसंग में कुछ विद्वानों का मानना है कि यहाँ पर प्रथम दो तथा अन्तिम दो मन्त्र, वस्तुतः मन्त्रोच्चारक के रूप में प्रयुक्त हुए हैं, जबकि शेष मन्त्रों में कुछ विश्वामित्र के कथनरूप में और कुछ मन्त्र नदियों के कथनरूप में प्रयुक्त हैं,[1] जबकि दूसरे विद्वान् इन आरम्भिक तथा अन्तिम सभी ऋचाओं को विश्वामित्र की प्रार्थना के रूप में ही मानने के पक्षधर हैं। सम्पूर्ण सूक्त संवादरूप में प्रयुक्त हुआ है, जो इसप्रकार है-

विश्वामित्र यहाँ पर नदियों की उपमा स्पर्धा में तीव्र दौड़ने वाली दो घोड़ियों से तथा अपने बछड़े को चाटने वाली दो उजली गायों से देते हुए, उनके प्रवाहित हो रहे जलप्रवाह की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि- हे शोभापूर्ण नदियों! अपनी तरङ्गों से तुम दोनों आपस में आलिङ्गन करती हुई सी प्रतीत हो रही हो और इन्द्र से प्रेरित होकर, तुम सागर की ओर बढ़ी जा रही हो, मैं माताओं में श्रेष्ठ, इस नदी के पास में आया हूँ, जो अपने ही स्थान से आगे बढ़ रही हैं।

उसके बाद नदियाँ कहती हैं कि देवों द्वारा बनाए गए, संयुक्त पाट के अन्दर प्रवाहित होती हुईं, हम दोनों रोकने योग्य नहीं हैं, फिर भी यह ऋषि हमसे प्रार्थना क्यों कर रहा है? जबकि विश्वामित्र उनसे थोड़ा रुककर प्रार्थना सुनने का अनुरोध करते हैं कि हे नदियों! मैं तुम्हें सहायता के लिए पुकार रहा हूँ। इस पर नदियाँ कहती हैं कि-

'इन्द्र ने हमें बहने के लिए मार्ग प्रदान किया है तथा नदियों को रोकने वाले वृत्र को उन्होंने नष्ट कर दिया है। सविता ने हमें मार्ग दिखाया है, जिसके निर्देश पर हम फैलते हुए आगे बढ़ रही हैं।'

---

[1] ऋग्भाष्यसंग्रह, डॉ. देवराज चानना, पृष्ठ-320 ।

तब विश्वामित्र ने उनके इस परिचय का अनुमोदन करते हुए कहा कि आने वाली पीढ़ियाँ तुम्हारे इन वचनों की उद्घोषणा करेंगी, तब नदियाँ कहती हैं कि आप इन वचनों को विस्मृत नहीं होने देना और स्तुतियों से हमारा गुणगान करते रहो तथा मनुष्यों के बीच हमारा अनादर मत करना। विश्वामित्र ने फिर से उनसे प्रार्थना की कि यह स्तुति करने वाला रथ और बैलगाड़ी से बहुत दूर से तुम्हारे पास आया है, तुम तब तक अपने प्रवाह को रथ की धुरी के नीचे रखो, जब तक हम पार न उतर जाएँ।

इसके बाद नदियाँ बोलीं– हम दूध पिलाने वाली स्त्री के समान या प्रियतम के समक्ष आत्मसमर्पण करने वाली कन्या के समान, तुम्हारे समक्ष झुकी रहेंगी।[1] इसप्रकार सेना के नदी के पार चले जाने पर विश्वामित्र ने उन्हें फिर से परिपूरित हो जाने के लिए कहा। यहाँ पर अन्त में नदियों से निरपराध बैलों को कोई हानि न पहुँचाने और बीच में गाड़ियों के न फँस जाने की प्रार्थना की गयी है। इसप्रकार सेना के जल से पार उतरने रूप लौकिक इतिवृत्त को यहाँ सुन्दररूप में प्रस्तुत किया गया है। प्रकृति के उपादानों के साथ मानव के मधुर सम्बन्धों को भी यहाँ मनमोहक अभिव्यक्ति प्रदान की गयी है।

(ञ) वैदिक और लौकिक संस्कृत में अन्तर– वेदों की भाषा अत्यधिक प्राचीन साहित्यिक भाषा के रूप में जानी जाती है तथा बाद में इसी भाषा से विकसित लौकिक संस्कृत, वैदिक भाषा से अनेक दृष्टियों में भिन्नता रखती है, जिसका अध्ययन हम निम्न बिन्दुओं के अन्तर्गत कर सकते हैं–

(i) वैदिक संस्कृत की अपेक्षा लौकिक संस्कृत पाणिनीय नियमों का अधिक कठोरता से पालन करती है, यद्यपि पाणिनि ने वैदिक भाषा के सम्बन्ध में भी व्याकरण के नियमों को बनाने का प्रयास किया, किन्तु इस कार्य में उन्हें उतनी सफलता नहीं मिल सकी, तभी तो

[1] आ ते कारो शृणवामा वचांसि ययाथ दूरादनसा रथेन।
नि ते नंसै पीप्यानेव योषा मर्यायेव कन्या इव शश्वचै ते।। ऋ.–3/33/10

उन्होंने 'बहुलं छन्दसि' कहकर, उसके रूपों की विविधता को स्वीकार किया है।

(ii) वैदिक भाषा में उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित, इन तीन स्वर चिह्नों का अनिवार्यरूप से प्रयोग किया गया है, जबकि लौकिक संस्कृत में इनका प्रयोग नहीं हुआ है, क्योंकि वैदिक संस्कृत में उच्चारण करते समय स्वराघात का विशेष ध्यान रखा जाता था।

(iii) वैदिक संस्कृत में ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत तीन प्रकार की मात्राओं का प्रयोग प्रचुर मात्रा में मिलता है, जबकि लौकिक संस्कृत में ह्रस्व और दीर्घ केवल दो मात्राओं का ही अधिक प्रयोग हुआ है, वहाँ प्लुत को 3 का अङ्क लिखकर, इसप्रकार प्रदर्शित किया जाता है– आसी3त्, ओ3म् इति।

(iv) वैदिक संस्कृत में सन्धि–नियमों का कठोरता से पालन नहीं किया गया है, क्योंकि वहाँ पर इस विषय में हमें अनेक अपवादों की उपलब्धता दृष्टिगोचर होती है, जबकि लौकिक संस्कृत में इनका अनिवार्यतः प्रयोग हुआ है तथा सन्धि का अवसर होने पर भी यदि सन्धि न की जाए, तो **विसन्धि दोष** माना गया है।

(v) इसके अतिरिक्त वेदों में 'लृ' स्वर का प्रयोग अत्यधिक हुआ है, जबकि लौकिक संस्कृत में इसका प्रयोग लगभग बन्द ही हो गया था।

(vi) वैदिक भाषा में 'ळ', 'ळ्ह्' इन दो अतिरिक्त व्यंजनों का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है, जबकि लौकिक संस्कृत में इनका प्रयोग नगण्य रहा है।

(vii) लौकिक संस्कृत की अपेक्षा वैदिक संस्कृत धातुओं की दृष्टि से अधिक सम्पन्न है, क्योंकि वहाँ पर हमें एक ही धातु के अनेक अर्थ तथा रूप देखने को मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक युग में बोली जाने वाली, सभी विभाषाओं तथा बोलियों को वैदिक भाषा में सम्मिलित कर लिया गया था।

(viii) वैदिक संस्कृत में धातुओं के परस्मैपद तथा आत्मनेपद के सम्बन्ध में कोई विशेष नियम नहीं है, कोई भी धातु वहाँ दोनों पदों में

प्रयुक्त हो सकती है, **जैसे–** हमें √गम् धातु के दोनों रूप वैदिक संस्कृत में मिल जाते हैं– गच्छति तथा गच्छते, किन्तु लौकिक संस्कृत में ऐसा नहीं है।

(ix) उल्लेखनीय है कि लौकिक संस्कृत में लङ्, लुङ् तथा लिट् इन लकारों का प्रयोग केवल भूतकाल के लिए किया जाता है, जबकि वैदिक संस्कृत में इनका प्रयोग किसी भी काल के लिए किया जा सकता है।

(x) वैदिक संस्कृत में **लेट् लकार** का प्रयोग अधिक परिलक्षित होता है, किन्तु लौकिक संस्कृत में इस लकार का प्रयोग नहीं किया गया है, क्योंकि यहाँ तो लकारों की संख्या ही दस रही है, जबकि वेद में यह ग्यारह है।

(xi) वैदिक भाषा में लौकिक संस्कृत की अपेक्षा प्रत्ययों की विविधता भी अधिक दृष्टिगोचर होती है, **जैसे–** वहाँ पर तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में, से, सेन्, असे असेन्, कसे, कसेन्, अध्यै, अध्यैन्, कध्यै, कध्यैन्, शध्यै, शध्यैन्, तवै, तवेङ्, तवेन आदि पन्द्रह प्रत्ययों का पर्याप्त रूप में प्रयोग हुआ है, जबकि लौकिक संस्कृत में ऐसा नहीं है।

(xii) वैदिक संस्कृत में उपसर्ग का क्रिया से अलग, कुछ शब्दों के अन्तराल पर, कहीं भी स्वतन्त्ररूप से प्रयोग किया जा सकता है, किन्तु लौकिक संस्कृत में यह क्रिया के साथ ही प्रयुक्त करना अनिवार्य है, **जैसे–** आगच्छति, निर्गच्छति आदि।

(xiii) वैदिक संस्कृत में उ, ईम्, इत् आदि अनेकानेक निपातों का विभिन्न अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए प्रयोग किया गया है,[1] जबकि लौकिक संस्कृत में अव्यय शब्दों का निश्चित अर्थों में प्रयोग उपलब्ध होता है तथा उनकी संख्या भी लगभग निश्चित रही है।

(xiv) वैदिक भाषा में सर्वनाम पदों के रूपों में भी लौकिक संस्कृत की अपेक्षा अधिक विविधता के दर्शन होते हैं, **जैसे–** वैदिक

---

1. द्रष्टव्य लेखककृत **ऋग्वेद के निपात,** परिमल प्रकाशन, दिल्ली, 1991। लेखक ने यहाँ 300 से भी अधिक निपातों का सायणभाष्य के आधार पर आर्थिक वर्गीकरण किया है। द्रष्टव्य उक्त ग्रन्थ की भूमिका।

भाषा में देवाः, देवासः, इन दोनों पदों का प्रचुरमात्रा में प्रयोग हुआ है, जबकि लौकिक संस्कृत में केवल 'देवाः' पद ही स्वीकृत है।

(xv) सर्वनाम पदों की विविधता के सम्बन्ध में अन्य उदाहरण भी देख सकते हैं, **जैसे–** वैदिक संस्कृत में प्रयुक्त 'युष्मद्' पद के त्वम्, युवम्, यूयम् (प्रथमा विभक्ति) इन पदों में से 'युवम्' पद का प्रयोग लौकिक संस्कृत में नहीं किया गया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वैदिक संस्कृत तथा लौकिक संस्कृत में अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण अन्तर परिलक्षित होते हैं, साथ ही, वैदिक संस्कृत में लौकिक संस्कृत की अपेक्षा अधिक विविधता रही है, जिसे उसकी समृद्धि का परिचायक कहा जा सकता है।

(ट) वैदिक छन्द– 'छन्दांसि छादनात्' इत्यादि व्युत्पत्ति के अनुसार छन्द पद √छद् (संवरणे या छादने) धातु से निष्पन्न होता है अर्थात् छन्द भावों को आच्छादित करके, उसे समष्टिरूप प्रदान करते हैं, मन्त्रों के सम्यक् उच्चारण तथा अर्थों के ज्ञान के लिए छन्द विषयक ज्ञान की परम आवश्यकता प्रतिपादित की गयी है। इस विषय में बृहद्देवताकार का मानना है कि–

अविदित्वा ऋषिच्छन्दो दैवतं योगमेव च।
योऽध्यापयेज्जपेद्वापि पापीयान् जायते तु सः।।

अर्थात् ऋषि, छन्द तथा देवता को जाने बिना, जो व्यक्ति वेदों के मन्त्रों का अध्यापन या जाप करता है, वह पापी होता है।

आचार्य पिङ्गल को छन्द का प्रथम आचार्य माना जाता है, इन्होंने 'छन्दःसूत्र' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया, जिसके आठ अध्यायों में वैदिक तथा लौकिक छन्दों के विषय में विस्तारपूर्वक विवेचन प्रस्तुत किया है, इनसे पूर्व भी यद्यपि अनेक आचार्य हुए, जिनके नामों का उल्लेख विभिन्न ग्रन्थों में किया गया है, किन्तु आज तक उनकी कोई रचना उपलब्ध नहीं हो सकी है। आचार्य पिङ्गल ने 'छन्दःसूत्र' के प्रथम अध्याय से लेकर चतुर्थ अध्याय के सातवें सूत्रपर्यन्त वैदिक छन्दों का ही उल्लेख किया है।

इसी प्रसङ्ग में उल्लेखनीय यह भी है कि वेदों में वार्णिक छन्दों का प्रयोग किया गया है, क्योंकि यहाँ पर मन्त्र के प्रत्येक पाद में वर्णों की गणना की जाती है, जबकि लौकिक छन्दों में मात्राओं का परि–गणन होता है। आचार्य पाणिनि ने पाणिनीय शिक्षा में छन्द को वेदरूपी पुरुष का पैर कहा है– 'छन्दः पादौ तु वेदस्य।'

ऋग्वेद में मुख्यरूप से सात छन्दों का प्रयोग हुआ है, जिनके नाम इसप्रकार हैं– गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्, बृहती, जगती तथा पंक्ति। इनमें से गायत्री तथा उष्णिक् तीन पादों वाले तथा पंक्ति पाँच पादों से युक्त छन्द हैं, शेष चारों छन्दों में चार पाद होते हैं। इसी प्रसंग में उल्लेखनीय यह भी है कि ऋग्वेद में 'त्रिष्टुप्' छन्द का सर्वाधिक 4253 मन्त्रों में प्रयोग हुआ है, जबकि दूसरा स्थान 'गायत्री' छन्द का है। इस आधार पर इन दोनों ही छन्दों के वेदों में महत्त्व को सहज ही स्वीकार किया जा सकता है। ऋग्वेद में तीन पाद, चार पाद तथा पाँच पादों वाले छन्दों का प्रयोग हुआ है, यहाँ प्रयुक्त छन्दों को हम संक्षेप में इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

क्र. सं.	छन्द	पाद 1, 2, 3, 4, 5,	कुल वर्ण	ऋग्वेद में प्रयुक्त मन्त्र संख्या
1	गायत्री	8, 8, 8, – –	24	2467
2	उष्णिक्	8, 8, 12, – –	28	341
3	अनुष्टुप्	8, 8, 8, 8, –	32	855
4	बृहती	8, 8, 12, 8, –	36	181
5	पंक्ति	8, 8, 8, 8, 8,	40	312
6	त्रिष्टुप्	11, 11, 11, 11 –	44	4253
7	जगती	12, 12, 12, 12, 12	48	1358

उपर्युक्त संक्षिप्त वितरण से स्पष्ट है कि गायत्री छन्द में कुल तीन पाद होते हैं, जिसके प्रत्येक पाद में 8–8 वर्ण, इसप्रकार कुल मिलाकर इस छन्द में 24 वर्ण होते हैं। ऋग्वेद के 2467 मन्त्रों में इस

छन्द का प्रयोग हुआ है। इसीप्रकार दूसरे छन्दों के विषय में भी समझना चाहिए।

इसी प्रसंग में यह कथ्य विशेषरूप से ध्यातव्य है कि सामान्यरूप से उक्त छन्दों के सामने प्रदर्शित वर्ण संख्या ही होती है, किन्तु इनकी संख्या कम या अधिक भी हो सकती है। छन्द में एक वर्ण कम होने पर **'निचृत्'** तथा दो वर्ण कम होने पर **'विराट्'** कहा जाता है, जबकि किसी भी छन्द में एक वर्ण अधिक होने पर वह **'भुरिक्'** तथा दो वर्ण अधिक होने पर **'स्वराट्'** हो जाता है। इसे उदाहरण से हम इसप्रकार समझ सकते हैं–

जैसे– सामान्यरूप से उष्णिक् में वर्णों की संख्या 28 होती है, किन्तु यदि मन्त्र में एक वर्ण कम होता है तो यही छन्द 'निचृत् उष्णिक्' कहा जाएगा तथा दो वर्ण कम होने पर 'विराट् उष्णिक्' होगा, जबकि एक वर्ण अधिक होने पर यही छन्द 'भुरिक् उष्णिक्' तथा दो वर्ण अधिक होने पर 'स्वराट् उष्णिक्' माना जाएगा। इसीप्रकार दूसरे छन्दों के विषय में भी समझना चाहिए।

(ठ) पदपाठ की सरलतम विधि– उल्लेखनीय है कि स्नातकोत्तर स्तर पर वैदिक साहित्य के प्रश्न–पत्र में प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में संहिता पाठ से पदपाठ कराने की सुदीर्घकालीन परम्परा रही है, जिसमें छात्र अत्यधिक कठिनता का अनुभव करते हैं, इसलिए या तो वे इस प्रश्न को छोड़ देते हैं या फिर यों ही कुछ भी चिह्न लगाकर, अपने कर्तव्य की इतिश्री कर लेते हैं। विद्यार्थियों की कठिनाई को दृष्टिगत रखते हुए, हम यहाँ पर पदपाठ की सरलतम विधि का उल्लेख कर रहे हैं। हमें दृढ़ विश्वास है कि इसे ध्यानपूर्वक समझने के बाद निश्चय ही वे पदपाठ करने में स्वयं ही समर्थ हो जाएँगे।

इसलिए आइए सर्वप्रथम इस विषय में **आरम्भिक ज्ञान** प्राप्त कर लें, ध्यान रहे–

(i) वेदों में मुख्यरूप से तीन ही स्वर होते हैं। **प्रथम,** उदात्त, **द्वितीय,** अनुदात्त, **तृतीय,** स्वरित।

(ii) **'उच्चैः उदात्तः'** परिभाषा के अनुसार जिसका उच्चारण स्वर पर बल देकर किया जाता है, उसे 'उदात्त' कहते हैं तथा इस स्वर पर किसी प्रकार के चिह्न का प्रयोग नहीं किया जाता है।

(iii) इसीप्रकार **'नीचैरनुदात्तः'** सिद्धान्त के अनुसार अनुदात्त स्वर पर हल्का बल प्रयोग करते हुए उच्चारण करते हैं, जिसे प्रदर्शित करने के लिए, इस स्वर के नीचे पड़ी लाइन का प्रयोग किया जाता है। **जैसे–** आगे दिए गए प्रथम अग्निसूक्त के पहले मन्त्र में **'अ॒ग्निमी॑ळे'** पद में 'अ॒ग्नि' में स्थित 'अ॒' अनुदात्त स्वर से युक्त है, जिसके नीचे पड़ी लाइन का प्रयोग किया गया है।

(iv) इसके अतिरिक्त ध्यान रहे, उदात्त स्वर के बाद आने वाला अनुदात्त **स्वरित** हो जाता है, जिसे प्रदर्शित करने के लिए, उस स्वर के ऊपर खड़ी लाइन का प्रयोग करते हैं। 'समाहारः स्वरितः' सूत्र के अनुसार इस स्वर पर मध्यम श्रेणी का बल देते हुए, इसका उच्चारण न बहुत अधिक ऊँचा और न अधिक नीचा किया जाता है। **जैसे–**

उक्त उदाहरण **'अ॒ग्निमी॑ळे'** में ही 'मी॑' पद पर खड़ी लाइन लगाकर, इसे स्वरित चिह्न से युक्त प्रदर्शित किया गया है।

(v) इसी प्रसङ्ग में यह बात विशेषरूप से ध्यान देने योग्य है कि उदात्त स्वर के बाद आने वाला अनुदात्त स्वर स्वरित हो जाता है, जिसे प्रदर्शित करने के लिए उसके ऊपर खड़ी लाइन का प्रयोग करते हैं, जैसाकि ऊपर उदाहरण में किया गया है। यहाँ पर 'अ॒ग्नि' पद में प्रयुक्त 'अ॒' स्वर अनुदात्त था, जबकि 'नि' में स्थित 'इ' उदात्त था, इसलिए उसके बाद आने वाला 'मी॑ळे' का 'ई' स्वरित हो गया, जिसे वहाँ खड़ी लाइन के चिह्न से प्रदर्शित किया गया है।

(vi) ध्यान रहे कि पदपाठ करते समय यह स्वरित चिह्न हमें स्वरों की पहचान कराने में अत्यधिक सहयोग प्रदान करता है, **इसलिए हम मन्त्र में इसकी कल्पना 'स्वरित'='ध्वजा' रूप में करेंगे, साथ ही, यह भी ध्यान रखेंगे कि यह स्वरित वस्तुतः मूलरूप से अनुदात्त ही है।**

(vii) इसके अतिरिक्त एक ही पद या अधिक पदों में स्वरित के बाद आने वाले सभी अनुदात्त **'एकश्रुति'** हो जाते हैं, जिनके ऊपर किसी प्रकार के चिह्न का प्रयोग नहीं करते हैं। इसप्रकार इस 'एकश्रुति' को पहचानने में 'स्वरित' अत्यधिक उपयोगी रहता है।

(viii) अतः यदि स्वरित के बाद किसी प्रकार के स्वर–चिह्न का प्रयोग न किया गया हो तो उसे एकश्रुति ही समझना चाहिए। **जैसे–**

'वि॒हाव॑से' पद में स्वरित चिह्नयुक्त 'व' के बाद 'से' पद पर कोई चिह्न नहीं लगाया गया है, इसलिए उक्त सिद्धान्त के अनुसार इसे हम एकश्रुति मानेंगे। यह एकश्रुति भी वस्तुतः मूलरूप से अनुदात्त ही है।

(ix) इसके अलावा संहिता पाठ में एकश्रुति पदों के बाद उदात्त स्वर आने पर, उससे पूर्व के पद को अनुदात्त स्वरयुक्त प्रदर्शित करते हुए, उसके नीचे पड़ी लाइन का प्रयोग करते हैं, इसलिए जैसे ही स्वरित चिह्न के बाद यह पड़ी लाइन आए तो हमें ठीक उसीप्रकार सावधान हो जाना चाहिए, जैसे गाड़ी चलाते समय हम 'स्पीडब्रेकर' आने पर सावधान हो जाते हैं।

(x) वस्तुतः स्वरित के बाद प्रयुक्त एकश्रुति के अन्तिम वर्ण पर लगे हुए इस अनुदात्त चिह्न की हमने यहाँ 'स्पीडब्रेकर' के रूप में कल्पना की है, जो हमें सावधान करता है कि मेरे बाद उदात्त स्वर का प्रयोग हुआ है, जो उदात्त को समझने में सबसे बड़ी पहचान का कार्य करता है।

(xi) उक्त सिद्धान्त को हम उदाहरण में इसप्रकार समझ सकते हैं– **ह्वया॑मि मि॒त्रावरु॑णा वि॒हाव॑से।** यहाँ पर 'ह्वया॑मि' के 'या॑' में प्रयुक्त स्वरित के बाद, एकश्रुतियों में से 'मि॒' को अनुदात्त स्वर से युक्त प्रदर्शित किया गया है, जो हमारे लिए 'स्पीडब्रेकर' का काम करते हुए यह संकेत कर रहा है कि मेरे बाद प्रयुक्त होने वाले 'त्रा' और 'व' दोनों ही पद उदात्त हैं, इसलिए इन दोनों पर कोई चिह्न नहीं लगाया गया है, जबकि 'व' के बाद आने वाला 'रु' अनुदात्त होने से **नियम संख्या 5** के अनुसार स्वरित हो गया है।

(xii) यह बात भी विशेष ध्यान देने योग्य है कि सामान्यरूप से एक पद में एक ही उदात्त होता है तथा सभी क्रियापद भी सामान्यरूप से सर्वानुदात्त होते हैं, किन्तु वक्ता द्वारा क्रिया पर बल देने की स्थिति में उसे भी उदात्त स्वर युक्त प्रदर्शित करते हैं।

(xiii) उपर्युक्त बातों को भलीप्रकार समझने के बाद, आइए एक मन्त्र के पूर्वार्द्ध का पदपाठ करने का प्रयास करते हैं, क्योंकि शेष नियमों को पदपाठ करते समय ही समझना होगा–

ह्वयाम्यग्निं प्रथमं स्वस्तये ह्वयामि मित्रावरुणा विहावसे।

(क) सबसे पहले इस मन्त्र के प्रत्येक पद को सन्धिविच्छेद करते हुए विराम चिह्नों को लगाकर, अलग–अलग इसप्रकार प्रदर्शित करें–

ह्वयामि। अग्निम्। प्रथमम्। स्वस्तये।

ह्वयामि। मित्रावरुणौ। इह। अवसे।

(ख) उल्लेखनीय है कि सन्धि–विच्छेद करते हुए अन्त में प्रयुक्त अनुस्वार को 'म्' द्वारा प्रदर्शित किया जाएगा। **जैसे–** यहाँ 'अग्निम्' तथा 'प्रथमम्' में किया गया है।

(ग) अब हमें उक्त पदों में स्वर–चिह्नों का प्रयोग करना है, इसके लिए पूर्व में कही गयी बातों को ध्यान रखते हुए, संहिता पाठ का सहयोग लेवें।

(घ) संहितापाठ में 'या' के ऊपर स्वरित चिह्न का प्रयोग हुआ है, इसका अभिप्राय हुआ कि इससे पहले प्रयुक्त 'व' में स्थित अ (व्+अ) उदात्तस्वर से युक्त है, जबकि यहाँ प्रयुक्त स्वरित अपने मूलरूप में अनुदात्त है। इसलिए अनुदात्त 'व' के बाद प्रयुक्त 'या' अनुदात्त होने से स्वरित हुआ है, जबकि इसके बाद आने वाला 'मि' एकश्रुति होगा, जिसपर कोई चिह्न नहीं लगेगा। इसलिए 'ह्वयामि' पद में स्वरांकन इसप्रकार होगा– ह्वयामि ।

(ङ) उपर्युक्त सम्पूर्ण प्रक्रिया से स्पष्ट है कि हमें शब्द के उदात्त स्वर को पहचानने में ध्वजारूप में स्थित स्वरित से अत्यधिक सहयोग

लेना है, जिससे महत्त्वपूर्ण उदात्त का पता लगने पर, पद का स्वराङ्कन करने में स्वतः ही सरलता हो जाती है।

(च) इसके बाद ध्यान दें कि संहितापाठ में 'प्रथमं' का 'प्र' स्वरित चिह्नयुक्त है। इसलिए इससे पहले प्रयुक्त 'अग्निम्' में 'नि' उदात्त हुआ, क्योंकि सिद्धान्त है कि उदात्त के बाद आने वाला अनुदात्त स्वरित हो जाता है।

(छ) इसलिए एक पद में एक ही अनुदात्त होगा, इस सिद्धान्त के अनुसार 'अग्निम्' का 'अ' अनुदात्त हुआ। अतः 'अग्निम्' पर स्वराङ्कन इसप्रकार करेंगे– अग्निम्।

(ज) इसी प्रसङ्ग में यह भी ध्यातव्य है कि स्वरचिह्न केवल स्वरों पर ही लगाए जाते हैं, व्यंजनों पर नहीं। इसलिए 'अग्निम्' के 'म्' पर कोई भी चिह्न नहीं लगाया गया है।

(झ) आइए, अब 'प्रथमम्' पद पर स्वराङ्कन करते हैं। संहितापाठ में स्वरित चिह्नयुक्त 'प्र' के बाद, 'म' को नियम संख्या 5 के अनुसार उदात्त समझना चाहिए, क्योंकि स्वरित मूलरूप से अनुदात्त होता है तथा 'म' के नीचे अनुदात्त चिह्न मानो 'स्पीड़ब्रेकर' के रूप में हमें सूचित कर रहा है कि सावधान मेरे आगे उदात्त है।

(ञ) इस आधार पर 'प्रथमम्' का स्वराङ्कन इसप्रकार होगा– प्रथमम् ।

(ट) अब आगे 'स्वस्तये' पद के स्वराङ्कन की बात करते हैं। संहिता पाठ में देखिए 'व' और 'य' दो अनुदात्त स्वरों अर्थात् 'स्पीड–ब्रेकरों' के बीच में प्रयुक्त 'त' पर कोई चिह्न नहीं लगाया गया है, जिसका अभिप्राय हुआ यह 'उदात्त' है और उदात्त स्वर के बाद आने वाला अनुदात्त स्वरित हो जाता है, इस सिद्धान्त के अनुसार इस पद का स्वराङ्कन इसप्रकार होगा– स्वस्तये, क्योंकि यहाँ 'त' के उदात्त होने के कारण उस पर तो कोई चिह्न नहीं लगेगा।

(xiv) **विशेष नियम–** ध्यान रहे संहिता पाठ में दो उदात्त स्वरों के बीच में प्रयुक्त अनुदात्त स्वरित नहीं होगा, अपितु वह अपने मूल स्वर अनुदात्त चिह्न द्वारा ही प्रदर्शित किया जाएगा, जबकि पदपाठ

करते समय बाद में प्रयुक्त उदात्त का प्रभाव न रहने के कारण उपर्युक्त नियम संख्या–2 लागू होगा, उस स्थिति में 'यें' स्वरित चिह्न से युक्त प्रयुक्त होगा।

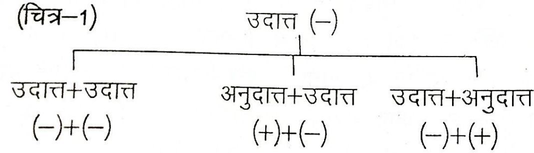
(क) इसीप्रकार आगे प्रयुक्त 'ह्वयामि' पद में 'या' वर्ण पर स्थित स्वरितरूपी ध्वजा द्वारा 'ह्व' में स्थित 'व' को उदात्त मानकर, पदपाठ में स्वराङ्कन इसप्रकार किया जाएगा– ह्वयामि।

(ख) इसी विधि से 'मित्रावरुणौ' पद में भी उदात्त की पहचान करके, इसे इसप्रकार चिह्नित किया जाएगा– मित्रावरुणौ ।

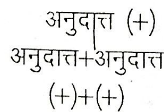
(xv) **विशेष नियम**– इसी प्रसंग में यह भी ध्यातव्य है कि सामान्यरूप से एक पद में एक ही उदात्त होता है, किन्तु द्वन्द्व समास में दो उदात्त होते हैं, इसीकारण यहाँ 'मित्रावरुणौ' पद में 'त्रा' और 'व' दो उदात्त स्वर प्रयुक्त हुए हैं, जिन पर कोई चिह्न नहीं लगाया गया है। अब 'इह' और 'अवसे' पदों पर स्वराङ्कन के लिए निम्न बातों को समझना होगा।

(xvi) **विशेष नियम**– दो या अधिक पदों में सन्धि होने की स्थिति में निम्न चार्ट सहयोगी होगा, जो वस्तुतः बीजगणित के नियम के अनुसार कार्य कर रहा है, क्योंकि यदि हम उदात्त को (–) तथा अनुदात्त को (+) मान लें तो इनके मिलने पर निम्न स्थिति बनेगी। इसे देखकर यह भी प्रतीत होता है कि वैदिक ऋषि बीजगणित की गुत्थियों से भलीभाँति परिचित रहे होंगे, उसी आधार पर उन्होंने यहाँ उदात्त, अनुदात्त के संयुक्त रूपों की व्यवस्था दी है–

(चित्र–1)



(चित्र–2)



(क) इसलिए यहाँ इह+अवसे पदों में 'ह' में स्थित 'अ' तथा 'अवसे' में विद्यमान 'अ' दोनों उदात्त स्वरयुक्त होने के कारण उदात्त+उदात्त= **उदात्त,** सिद्धान्त के अनुसार (अ+अ=आ), संहितापाठ में दीर्घसंधि हुई थी, किन्तु पदपाठ में इन दोनों का अलग–अलग स्वर इसप्रकार होगा– इह तथा अवसे।

(ख) अतः उपर्युक्त मन्त्रांश का पदपाठ इसप्रकार करेंगे–

ह्वयामि। अग्निम्। प्रथमम्। स्वस्तये।

ह्वयामि। मित्रावरुणौ। इह। अवसे।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ध्वजारूपी स्वरित तथा स्पीड–ब्रेकररूपी अनुदात्त स्वर की सहायता से पद में उदात्त स्वर को पहचानने के बाद, प्रत्येक पद का स्वराङ्कन सरलतापूर्वक किया जा सकता है। यदि उक्त सम्पूर्ण प्रक्रिया एक बार में समझ में न आए तो विद्यार्थियों को चाहिए कि एकाग्रतापूर्वक इसे बार–बार पढ़ने का प्रयास करें, निश्चय ही वे पदपाठ आसानी से कर सकेंगे।

इसके अतिरिक्त आपने पदपाठ में देखा होगा कि वहाँ कुछ स्थलों पर **अवग्रहचिह्न (ऽ)** तथा **'इति'** पद का भी प्रयोग किया जाता है। इन्हें समझने के लिए निम्न नियमों को भी समझना होगा–

(xvii)**अवग्रह(ऽ)सम्बन्धी नियम**–उपसर्गों के साथ कृदन्त पदों[1] का समास होने पर, दोनों के बीच में अवग्रह चिह्न का प्रयोग किया जाता है, जैसे– **प्रवृक्तम्**– प्र+वृक्तम्, प्रऽवृक्तम्।

(क) यदि पद के अन्त में सुप, भ्याम्, भिस्, भ्यस्, क्वसु, त्व, तरप्, मत्, वत् आदि प्रत्ययों का प्रयोग हुआ हो तथा मूल प्रातिपदिक में कोई विकार न हुआ हो, तो प्रत्यय के पहले अवग्रह का प्रयोग करते हैं। **जैसे**– गोऽमतीः, कर्णऽवन्तः, देवऽत्वम्, वृत्रऽतरम्, अप्ऽसु, हरिऽभ्याम्, ऋषिऽभ्याम् आदि।

[1] कृदन्त पदों को भी समझने के लिए द्रष्टव्य लेखककृत **सुगम संस्कृत व्याकरण**, प्रकाशक– चौखम्भा ओरियन्टालिया, दिल्ली।

(ख) इसीप्रकार 'इव' के साथ नित्य समास होने पर पूर्वपद तथा 'इव' के बीच में अवग्रह चिह्न का प्रयोग किया जाएगा, जैसे– सेनेव, सेनाऽइव।

(ग) सप्तमी अर्थ में प्रयुक्त 'त्रा' प्रत्यय को पदपाठ में मूलपद से अवग्रह चिह्न द्वारा अलग प्रदर्शित करते हैं। जैसे– पुरुऽत्रा। देवऽत्रा।

(घ) **अपवाद**–किन्तु इस नियम में कुछ अपवाद भी मिलते हैं, जैसे– सामान्यरूप से पदपाठ करते समय समासयुक्त पदों के बीच में अवग्रहचिह्न का प्रयोग किया जाता है, जैसे– गोत्रभिदम्–गोत्रऽभिदम्। अमित्रदम्भनम्–अमित्रऽदम्भनम्, किन्तु देवताद्वन्द्व के पदों को अवग्रह द्वारा अलग प्रदर्शित नहीं करते हैं। जैसे– उपर्युक्त उदाहरण में मित्रावरुणौ पद में अवग्रह चिह्न का प्रयोग नहीं किया गया है।

(ङ) इसीप्रकार नञ् समास में भी 'नञ्' को अवग्रह द्वारा अलग नहीं करते हैं। जैसे– अमृतानाम्।

(xvii) **'इति' सम्बन्धी नियम**– इसीप्रकार हम देखते हैं कि कुछ पदों के पदपाठ में 'इति' शब्द का प्रयोग भी किया जाता है, जबकि संहिता पाठ में इसका प्रयोग नहीं होता है। इस विषय में भी कुछ नियमों को स्मरण कर लें।

(क) सर्वप्रथम ध्यान रहे कि 'इति' आद्युदात्त स्वरयुक्त होता है, इसलिए इसके ऊपर इसप्रकार स्वरचिह्न का प्रयोग करेंगे– **इति**, इसके ऊपर इससे पूर्व के स्वर का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

(ख) ईकारान्त, ऊकारान्त तथा एकारान्त पदों के द्विवचन में पदपाठ करते समय **इति**, पद का प्रयोग करेंगे। जैसे– उशती इति। शुभ्रे इति। अध्वर्यू इति।

(ग) अस्मे, युष्मे, त्वे तथा अमी पदों के साथ पदपाठ करते समय 'इति' पद का प्रयोग किया जाएगा। जैसे– अस्मे इति। युष्मे इति।

(घ) इसीप्रकार एक अक्षर वाले प्रगृह्य पद 'ओ' के साथ भी इति पद का प्रयोग किया जाएगा। **जैसे–**

ओ हि वर्तन्ते– ओ इति। हि। वर्तन्ते।

(ङ), जबकि संहितापाठ में प्रयुक्त 'उ' निपात को पदपाठ में दीर्घ अनुस्वारयुक्त करके इति का प्रयोग किया जाएगा। जैसे– अवर्षीर्वर्षमुदद्रु सु गृभाय– अवर्षीः। वर्षम्। उत्। ऊँ इति। सु। गृभाय।

(च) इसीप्रकार ओकारान्त पद के साथ भी पदपाठ में इति का प्रयोग किया जाएगा, जैसे– वायो इति।

(छ) अकारान्त और आकारान्त निपात तथा सर्वनाम पदों के साथ 'उ' निपात की सन्धि होने पर सन्धियुक्त पदों में इति पद का प्रयोग करके, पदपाठ किया जाएगा। जैसे– अथो इति। नो इति। प्रो इति। एषो इति। यो इति।

(ज) संहितापाठ में पद के अन्त में प्रयुक्त विसर्ग को 'र' होने की स्थिति में पदपाठ करते समय विसर्ग को 'र्' करके, इति पद का प्रयोग करेंगे, जैसे– अन्तरिति। प्रातरिति। सवितरिति।

(झ) **विशेष नियम**– अनेक बार संहितापाठ में छन्द के अनुरोध से मूलरूप में ह्रस्व स्वर को दीर्घ कर दिया जाता है, किन्तु पदपाठ में उसे ह्रस्व करके ही प्रदर्शित करते हैं। जैसे– अभीवृतं कृशनैः। अभिऽवृतम्। कृशनैः। यहाँ संहितापाठ के 'अभी' दीर्घ 'ई' को पदपाठ में ह्रस्व 'इ' के रूप में प्रदर्शित करके ही प्रयोग किया गया है।

उपर्युक्त नियमों को भलीप्रकार समझकर इसी पुस्तक में आगे दिए गए, संहितापाठ तथा पदपाठ के सहयोग से छात्रों को स्वतन्त्ररूप से स्वयं पदपाठ करने का अभ्यास करना चाहिए। अपेक्षाकृत विस्तृत नियमों को जानने के लिए डॉ. युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा विरचित वैदिक स्वर मीमांसा तथा डॉ. ब्रजविहारी चौबे द्वारा लिखी गयी वैदिकस्वरबोध और लेखक की वैदिक स्वर–चन्द्रिका का भी गम्भीरता से अध्ययन करना चाहिए।

(ड) देवों का स्वरूप– ऋग्वेद में प्रायः प्राकृतिक शक्तियों को देवता मानकर उनकी स्तुति की गयी है, जिनमें उनके मानवाकार की मनोरम कल्पना भी देखने को मिलती है। हम इस ग्रन्थ में सम्मिलित किए गए सूक्तों में वर्णित प्रमुख देवों के स्वरूप का अत्यन्त संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं–

(1) अग्नि– ऋग्वेद के पृथिवी–स्थानीय देवों में अग्नि का स्थान प्रमुख हैं, क्योंकि यहाँ पर दो सौ सूक्तों में इसकी अकेले स्तुति की गयी है तथा दूसरे कई सूक्तों में दूसरे देवों के साथ भी इसकी प्रार्थना हुई है। इसलिए प्रभाव और विस्तार की दृष्टि से वैदिक देवों में इन्द्र के बाद इन्हीं का नाम आता है। आचार्य शाकपूणि ने अग्नि के तीन निर्वचन प्रस्तुत किए हैं। **प्रथम**, में√इण् गतौ धातु से **द्वितीय** में, √अञ्ज् (प्रकाशने) या √दह् (दहने) से तथा तृतीय में √नी (नये) द्वारा अग्नि पद की व्याख्या की गयी है।[1]

ऋग्वेद में अग्नि के तीन मुख्य कर्मों का उल्लेख हुआ है। (क) हव्य पदार्थों को देवों तक पहुँचाना (ख) देवों को यज्ञ में बुलाकर लाना और (ग) दृष्टिविषयक प्रकाशादि कर्म करना। यहाँ पर अग्नि के साथ प्रायः इन्द्र, सोम, वरुण, पर्जन्य तथा ऋतुओं की स्तुति की गयी है (निरुक्त–7/8)। इसी प्रसङ्ग में यह भी उल्लेखनीय है कि यहाँ पर प्रत्येक मण्डल में इन्द्र के सूक्तों से पहले अग्नि के सूक्तों के प्रयोग होने से इसका महत्त्व अपेक्षाकृत अधिक प्रतीत होता है।

ध्यातव्य है कि ऋग्वेद में अग्नि के तीन प्रकार के जन्मों का भी उल्लेख किया गया है, इसका **प्रथम** जन्म यज्ञ की दो अरणियों के मध्य होता है, इस दृष्टि से ये अरणियाँ अग्नि के माता–पिता हैं। अरणियों का मन्थन करने वाली दस अङ्गुलियों को भी यहाँ अग्नि की माता कहा गया है, इस कार्य में ऊर्जा का प्रयोग होने से अग्नि शक्ति का पुत्र भी है।

इसके अलावा अग्नि का **दूसरा जन्म** अन्तरिक्ष में स्थित जलों से होता है, जिसे यहाँ वैद्युताग्नि नाम दिया गया है। इसीलिए कुछ सूक्तों में अग्नि को 'अपां नपात्' भी कहा है। अग्नि का **तीसरा जन्म** द्युलोक में होता है, पृथ्वी पर इस उत्तम अग्नि को मातरिश्वा लेकर आए थे,

[1]. त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः– इतात्, अक्तादद्दग्धाद वा, नीतात्। न खल्वेते रकारमादत्ते, गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा नीः परः।

यह उल्लेख भी यहाँ किया गया है।[1] ध्यातव्य है कि ऋग्वेद में सूर्य को भी द्युस्थानीय अग्नि का ही रूप कहा गया है।

इसके अलावा कुछ स्थलों पर इसे 'द्विजन्मा' संज्ञा भी प्रदान की गयी है।[2] ऋग्वेदीय ऋषि की धारणा तो यह भी है कि ये वर्षा में द्युलोक से उतरकर, वनस्पतियों में प्रविष्ट हो जाते हैं, इनसे ये फिर से प्रकट होते हैं, किन्तु मानवीय रूप में ये देवता यहाँ पर पुरोहित, यज्ञ के प्रमुख देवता, होता, ऋत्विक् तथा सर्वाधिक धन प्रदान करने वाले हैं, जिसका प्रस्तुत संग्रह में भी उल्लेख हुआ है (ऋ.1/1/1)।

सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि अन्य देवों की अपेक्षा मनुष्यों के साथ अग्नि देव का सम्बन्ध अधिक रहा है, क्योंकि यहाँ पर ये प्रत्येक घर में निवास करते हैं। इसीलिए 'गृहपति' भी कहे गए हैं। वैदिक कर्मकाण्ड में गार्हपत्य, आहवनीय तथा दक्षिण नाम की तीन अग्नियों का प्रयोग होता है, जिनमें गार्हपत्य की प्रमुखता मानी गयी है, जो अग्नि के गृहसम्बन्ध का भी सूचक है। यहाँ पर इन्हें घर–घर का अतिथि, उपासकों का भाई, माता, पिता, पुत्र और माता भी कहा गया है। हव्य को देवों तक ले जाने के कारण यह, देवों का दूत भी है।[3] इन्हें देवों तथा पृथ्वी के मध्य का मार्ग भलीप्रकार ज्ञात है।

ऋग्वेद में इन्हें यज्ञों का मर्मज्ञ, ऋतुओं का ज्ञाता, विशिष्ट प्रज्ञा से सम्पन्न, यज्ञ–विधानों से अपरिचित लोगों की त्रुटियों को क्षमा करने वाला कहा है। इतना ही नहीं, अग्नि को 'जातवेदस्' अर्थात सभी कुछ जानने वाला कहा गया है। इसीप्रकार यहाँ पर इनका दूसरा नाम 'वैश्वानर' भी प्रयुक्त हुआ है। अग्निदेवता वस्तुतः अन्धकार का विनाश करने वाले, यज्ञों के प्रमुख सहायक तथा अनिष्ट तत्त्वों को विनष्ट करने वाले हैं। वनों पर आक्रमण करते हुए, ये नाई के समान पृथ्वी को स्वच्छ कर देते हैं, उस समय इनका मार्ग, धूम के ऊपर उठने से अन्धकारमय हो जाता है।

[1]. स जायमानः परमे व्योमन्याविरग्निपरभवन्मातरिश्वने। ऋग्वेद– 1/143/2
[2]. अयं स होता यो द्विजन्मा । ऋग्वेद– 1/149/5
[3]. अग्निं दूतं वृणीमहे।

ये अपने स्तोता को गार्हपत्य का आनन्द, सन्तान और अभ्युदय से परिपूरित करते हैं। दो अरुण अश्व इनके उज्ज्वल रथ को खींचते हैं। काष्ठ तथा घृत ये दोनों ही अग्नि के खाद्य पदार्थ हैं। घृत तथा सोम ये दोनों इनके पेय पदार्थ हैं। ये दिन में तीन बार भोजन करते हैं, इसप्रकार ये देवों के मुख भी हैं। यज्ञ से विशेष सम्बन्ध होने से इन्हें 'घृतपृष्ठ' भी कहते हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ पर इन्हें ज्वालारूपी केशों से युक्त, लाल दाढ़ी वाला, नुकीले दाँतों वाला तथा स्वर्ण के समान दाँतों वाला भी कहा है, ज्वालाएँ इनकी जिह्वा हैं।

(2) वरुण– ऋग्वेद के आठ सूक्तों में (1/25, 2/28, 5/85, 7/86, 87, 88, 89, 8/41) में स्वतन्त्ररूप से इनकी स्तुति की गयी है। प्रभाव की दृष्टि से यहाँ पर इसका इन्द्र तथा अग्नि के बाद स्थान है। ऋग्वेद में इनकी स्तुति अग्नि (4/1/2–5), इन्द्र (1/17), मित्र (1/2/7–9), अर्यमा (1/41/1–3) और सोम (6/75/18) आदि देवों के साथ की गयी है। यहाँ इन्हें मुख्यरूप से शासक के रूप में चित्रित किया है, जो सम्पूर्ण प्रजा के पाप–पुण्यों का लेखाजोखा रखते हैं। नियमों का पालन कराना तथा शासन करना ही इनका मुख्य कर्तव्य है। इनके गुप्तचर सारे संसार में विचरण करते रहते हैं। इनका आयुध पाश है, जिससे ये सभी पापियों का बन्धन करके, उन्हें दण्ड प्रदान करते हैं।

वेदों के अनेक मन्त्रों में इनके पाशों की महिमा का विस्तारपूर्वक उल्लेख हुआ है। पापकर्मों को देखते ही क्रुद्ध हुए वरुण देव, नियमों को भङ्ग करने वालों को कठोर दण्ड प्रदान करते हैं। एक स्थल पर स्वयं ऋषि वसिष्ठ ने उनके पाशों से बाँधे जाने की बात को स्वीकार किया है।[1] ऋग्वेद में इन्हें पुष्ट शरीर वाला तथा स्वर्ण से बने हुए कवच को धारण करने वाला कहा गया है। इनकी चमकदार किरणें राब ओर प्रकाशित हो रही हैं–

बिभ्रद्रापिं हिरण्ययं वरुणो वस्त निर्णिजम्।

1. ऋग्वेद– 7/86/3

परि स्पशो नि षेदिरे।। ऋ.–1/25/13

सूर्य इनके नेत्र हैं, जिनके माध्यम से ये सभी लोगों पर नज़र रखते हैं। इनका रथ सूर्य के समान कान्तिमान् है, जिसमें घोड़े जुते हुए हैं। इनका सुनहरे पंखों वाला एक दूत भी है, जिसे विद्वानों ने सूर्य के रूप में स्वीकार किया है। वरुण देव सभी प्राणियों को धैर्य प्रदान करते हैं तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के शासक हैं। इन्होंने ही विस्तृत द्युलोक तथा पृथिवी लोक को धारण किया हुआ है तथा सम्पूर्ण पृथिवी का विस्तार किया है। इसके अतिरिक्त ये ही स्वर्गलोक, आदित्य तथा सभी नक्षत्रों को प्रेरित करते हैं।[1]

कुछ विद्वान् इनका सम्बन्ध अवेस्ता के 'अहुरमज्द' के साथ जोड़ते हैं, क्योंकि ये 'असु' अर्थात् प्राणों को 'र' अर्थात् प्रदान करने वाले हैं। इसी दृष्टि से वैदिक साहित्य में वरुण के लिए 'असुर' शब्द का प्रयोग भी किया गया है। ये वस्तुतः सभी प्राणियों में प्राण–शक्ति का सञ्चार करते हैं। इसी प्रसंग में उल्लेखनीय यह भी है कि पुराणों में ये ही मुख्यरूप से जल के देवता के रूप में चित्रित किए गए हैं, किन्तु ऋग्वेद में इसप्रकार की अभिव्यक्ति नहीं हुई है।

ध्यातव्य है कि ऋग्वेद का ऋषि प्रायः वरुण के अन्तःकरण में स्थान प्राप्त करने के लिए व्याकुल रहा है, इसीलिए यहाँ सर्वत्र उनसे क्रुद्ध न होने की प्रार्थना की गयी है।[2] इनकी एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि ये पापियों का बन्धन करके उन्हें दण्डित करते हुए, अपने पापों का प्रायश्चित्त करने वालों को अत्यन्त दयापूर्वक क्षमा भी कर देते हैं।[3] यहाँ पर इन्हें कामनाओं का पूरक (मीळहुषे), संसार का भरण–पोषण करने वाला (भूर्णये) कहा गया है, साथ ही, इनके प्रति दास्य भाव की भक्ति की कामना भी की गयी है। इसके अलावा यहाँ पर इनसे ज्ञान, धन तथा अन्न प्रदान करने की प्रार्थना भी की गयी है। यहाँ पर एक

1. ऋग्वेद– 7/86/1
2. ऋग्वेद– 7/86/2
3. ऋग्वेद– 7/86/5

मन्त्र में उनसे प्राप्त होने वाले पदार्थों की प्राप्ति में तथा अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति में आने वाले विघ्नों की शान्ति हेतु निवेदन किया गया है–

शं नः क्षेमे शमु योगे नो अस्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः।।[1]

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि ऋग्वेद में वरुण देव को वस्तुतः अनुशासन प्रिय देवता के रूप में वर्णित किया है। यद्यपि यहाँ इनके लिए अधिक मन्त्रों का प्रयोग नहीं हुआ है, किन्तु फिर भी इन्हें अत्यधिक प्रभावशाली तथा शक्तिशाली रूप में चित्रित किया गया है। इसीलिए मैक्डॉनल ने इनके स्वरूप की तुलना आकाश में चारों ओर फैले हुए प्रकाश से की है।

(3) सवितृ– सविता शब्द की व्युत्पत्ति √षू (प्रेरणे) धातु से मानी गयी है, जिसका अभिप्राय है, उत्पन्न करना, प्रेरणा प्रदान करना, गति देना, अनुप्राणित करना। इन सभी अर्थों का सम्बन्ध सविता देवता से है, इसी प्रसङ्ग में यह तथ्य विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि यद्यपि सविता और सूर्य ये दोनों भिन्न देवता हैं, किन्तु इनमें पर्याप्त साम्य भी विद्यमान है, इसीकारण कुछ विद्वानों ने इन दोनों को एक ही माना है। इस देवता के लिए ऋग्वेद में दस सूक्तों (1/35, 2/18, 4/53, 54, 5/81, 82, 6/71, 7/38, 45, 10/149) में स्वतन्त्ररूप से स्तुति की गयी है। यहाँ किए गए वर्णन के आधार पर ये प्रकाशमय स्वर्णिम आभा लिए हुए हैं, इनके नेत्र, जिह्वा, हाथ आदि सभी स्वर्णिम हैं।

यहाँ पर इनके सुन्दर स्वरूप वाले एक रथ का भी उल्लेख हुआ है, जो स्वर्ण का बना हुआ है। इसके धुरे, यष्टि, लगाम आदि सभी स्वर्णिम हैं। इसी के ऊपर आरूढ़ होकर, सविता देव अपने प्रकाशरूप बल को धारण करके, अन्धकार से आच्छन्न सम्पूर्ण विश्व का भ्रमण करते हैं।[2] यहाँ पर इन्हें चित्र–विचित्र किरणों वाला कहा गया है (चित्रभानुः)। इनके रथ के घोड़ों का रंग काला है (श्यावाः), जिनके पैर श्वेतरङ्ग के हैं (शितिपादाः)। इनका घोड़ों के कन्धों पर रखा जाने

---

1. ऋग्वेद– 7/86/8
2. ऋग्वेद– 1/35/4

वाला जुआ भी स्वर्ण निर्मित है। संसार के सभी प्राणी प्रकाश के लिए सविता देवता की शरण में जाते हैं और उनके पास में बैठते हैं।[1]

इसके अतिरिक्त अपनी स्वर्णिम भुजाओं के समान, किरणों द्वारा यह देवता सारे आकाश को व्याप्त करते हुए उदित होता है। यहाँ पर एक मन्त्र में इन्हें आकाश में स्थित चन्द्र, तारों आदि सभी नक्षत्रों का उसीप्रकार नियामक बताया गया है, जिसप्रकार रथ के अक्ष में डाली गयी कील, रथ को अवस्थित करती है। यहाँ पर इसे स्वर्गलोक से दिखायी देने वाले, तीन लोकों में से भूलोक तथा द्युलोक को प्रकाशित करने वाला भी कहा है।[2]

वैदिक ऋषि का मानना है कि सविता देवता के विषय में केवल विद्वान् व्यक्ति ही कुछ कहने में समर्थ है। इसकी रश्मियाँ शीघ्रगामिनी, प्राणों को प्रदान करने वाली तथा मार्ग पर भलीप्रकार ले जाने वाली हैं।[3] यह संसार की प्रत्येक वस्तु को प्रकाशित करता है। एक मन्त्र में इन सभी बातों का उल्लेख करते हुए, ऋषि ने इनसे सभी प्राणियों को अपने–अपने भोगों से संयुक्त करने की प्रार्थना की है–

अष्टौ व्यख्यत्ककुभः पृथिव्यास्त्री धन्व योजना सप्त सिन्धून्।
हिरण्याक्षः सविता देव आगाद् दधद्रत्ना दाशुषे वार्याणि।।[4]

सभी का हित चाहने वाले सविता, हवि प्रदान करने वाले यजमान को वरण करने योग्य उत्तम रत्न प्रदान करते हैं। यहाँ इन्हें स्वर्णिम हाथों वाला (हिरण्यहस्तः), प्राणों को प्रदान करने वाला (असुरः), श्रेष्ठ नेता (सुनीथः), उत्तम सुखों को प्रदान करने वाला (समृळीकः) और धन–सम्पन्न बताते हुए, राक्षस और दैत्यों को दूर करने वाला कहा है।[5] वस्तुतः इनका सम्बन्ध प्रदोष तथा प्रत्यूष दोनों से है। बुरे

---

1. शश्वद्विशः सवितुर्दैव्यस्योपस्थे विश्वा भुवनानि तस्थुः। ऋग्वेद– 1/35/5
2. ऋग्वेद– 1/35/6
3. ऋग्वेद– 1/35/7
4. ऋग्वेद– 1/35/8
5. ऋग्वेद– 1/35/10

स्वप्नों को विनष्ट करते हुए, यह दुर्भाग्यों को दूर करता है। ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में इनसे यजमान की रक्षा करने की प्रार्थना की गयी है।

इसके अतिरिक्त सभी को प्रेरणा देने वाले इनके मार्गों को पहले से निश्चित, धूलिरहित और अन्तरिक्ष में भलीप्रकार बनाए हुए कहा है।[1] इसप्रकार स्पष्ट है कि इस देवता का पर्याप्त साम्य सूर्यदेव से है, किन्तु फिर भी इन्हें यहाँ स्वतन्त्र देवता के रूप में मान्यता प्रदान की गयी है। अत्यधिक प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र भी इसी देवता की महिमा का कथन करता है। ये वस्तुतः प्रकाश के देवता हैं, जो अन्धकार को दूर करके सभी प्राणियों को चैतन्य प्रदान करते हैं।

(4) उषस्– वैदिक देवों में इनका भी महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। ऋग्वेद के उन्नीस सूक्तों (1/48, 49, 92, 123, 2/20, 3/61, 4/51, 5/79, 80, 6/64, 65, 7/75, 76, 77, 78, 79, 80, 81, 10/172) में इनकी स्वतन्त्ररूप से स्तुति की गयी है तथा इन्हें सौन्दर्य की देवी के रूप में चित्रित किया गया है, जिनके प्रकट होने पर संसार का कोना–कोना जगमगा उठता है। यहाँ इन्हें सूर्य की प्रेयसी, बताया गया है, जो नर्तकी के समान सज–धज–कर स्वर्णिम वस्त्रों को धारण करके, पूर्वदिशा में अपने मनमोहक रूप को प्रकट करती है तथा रसिक युवक के समान सूर्य, इसके पीछे–पीछे जाता है। ऋषि की यह कल्पना वस्तुतः अत्यधिक आकर्षक बन पड़ी है।[2]

सुन्दर युवती उषा के प्रकट होने पर, पैरों वाला सम्पूर्ण प्राणी समूह जागकर, अपने–अपने कामों में लग जाता है। इसीप्रकार पक्षी समूह आकाश में उड़ने लगता है।[3] अतः उषस् देवता सम्पूर्ण प्राणी समुदाय को अपने कार्यों में नियोजित करता है। ऋग्वेद में एक स्थल पर इन्हें सौभाग्यवती (सुभगा) बताते हुए, इनके सौ रथों का उल्लेख किया गया है, जिनके द्वारा यह सूर्य के उदयस्थान से भी बहुत आगे से मनुष्यों की ओर अभिगमन करती है। वस्तुस्थिति तो यह है कि ऋग्वेद में इनका मनमोहक काव्यमय चित्रण हुआ है–

1. ऋग्वेद– 1/35/11
2. ऋग्वेद– 1/48/5
3. ऋग्वेद– 1/48/5

एषा युक्त परावतः सूर्यस्योदयनादधि।
शतं रथेभिः सुभगोषा इयं वि यात्यभि मानुषान्।।[1]

इसके अतिरिक्त उषा के लिए 'पुराणी' विशेषण का भी प्रयोग हुआ है, क्योंकि पुरातनी होते हुए भी यह नवयुवती के समान सुन्दर है। इसके कान्तियुक्त रथ को लाल रंग के घोड़े खींचते हैं। सूर्य की किरणें ही वस्तुतः इनके घोड़े हैं। कुछ स्थलों पर सूर्य को उषा का पुत्र भी कहा है, जिसे लेकर यह उदित होती है। इतना ही नहीं, यहाँ पर इसे आकाश की पुत्री भी बताया है (दिवः दुहितर उषः) तथा अन्तरिक्षादि लोकों से सोमपान के लिए, एक स्थल पर देवों को लाने हेतु प्रार्थना भी की गयी है– 119753

विश्वान्देवाँ आ वह सोमपीतयेऽन्तरिक्षादुषस्त्वम्।

इसके अतिरिक्त कुछ स्थलों पर इन्हें गायों तथा अश्वों से युक्त, प्रशंसनीय पराक्रमयुक्त बताते हुए, धनों को प्रदान करने की कामना भी की गयी है।[2] कुछ मन्त्रों में इन्हें रात्रि की छोटी बहन भी कहा है, जो प्रकाश में स्नान करती हुई, रात्रिरूपी नायिका के काले परिधान को उतार देती है। इसीप्रकार यह आकाश में उत्पन्न होने से स्वर्ग की पुत्री भी है। उल्लेखनीय है कि यहाँ पर अग्नि के साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध बताते हुए, इसे उषा का प्रेमी बताया गया है। इसीलिए इससे मिलने के लिए अग्नि अपनी लपटों रूपी हाथों को आकाश की ओर ले जाता है, जिसे सुन्दर कल्पना के रूप में देखा जा सकता है।

प्रसन्न होने पर यह अपने स्तोताओं को उत्कृष्ट धन, पुत्र तथा यश प्रदान करती है। इनके लिए 'मघोनी' विशेषण का यहाँ पर अनेक बार प्रयोग हुआ है (1/48/8, 113/5, 13), साथ ही, इनके लिए विश्ववाराः, प्रचेताः, रेवती आदि विशेषणों का भी उल्लेख अनेक बार किया गया है। यह अपने प्रकाश के पुंज को सम्पूर्ण संसार में ठीक इसप्रकार फैलाती है, जैसे कोई पहिए को घुमाता है।



1. ऋग्वेद– 1/48/7
2. ऋग्वेद– 1/48/12

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि उषा वैदिककाल की प्रमुख, प्रभावशाली तथा आकर्षक देवी रही हैं। इसका प्रातःकाल में आगमन सभी प्राणियों में उत्साह तथा हर्ष का सञ्चार करने वाला है। यहाँ पर निरन्तर उन्नति तथा भौतिक समृद्धि को प्राप्त करने के लिए इनकी उपासना की गयी है।

(5) सूर्य– द्युस्थानीय देवता सूर्य के लिए ऋग्वेद में 14 सूक्त समर्पित रहे हैं। ये सर्वाधिक प्रकाश के देवता हैं। निरुक्तकार ने सूर्य पद की व्युत्पत्ति के लिए गत्यर्थक √सृ, √ईर, प्रेरणार्थक √सू धातु का उल्लेख किया है (सूर्यः सर्तेर्वा सुवतेर्वा स्वीर्यतेर्वा– निरुक्त, 12/14), जबकि आचार्य पणिनि √सृ धातु से क्यप् प्रत्यय करके सूर्य पद की निपातन से निर्मिति स्वीकार करते हैं (अष्टाध्यायी–3/1/144)।

वैदिक मन्त्रों में इन्हें सभी भुवनों के नेत्र बताया है, जिन्हें किरणें वहन करती हैं। यहाँ इन्हें देवों के नेत्र (देवानां चक्षुः), मित्र, वरुण तथा अग्नि के चक्षु (चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः) भी कहा है। वैदिक ऋषि इसकी उत्पत्ति परमपुरुष के नेत्र से स्वीकार करता है (चक्षोः सूर्यो–ऽजायत)। सूर्य वस्तुतः आकाश, पृथ्वी तथा जलों का निरीक्षण करते हैं, ये सर्वद्रष्टा तथा दूरद्रष्टा भी हैं। इसके अतिरिक्त वे सभी प्राणियों के शुभाशुभ कर्मों का निरीक्षण करते रहते हैं। इन्हीं के द्वारा जगाए जाने पर लोग अपने लक्ष्यों की पूर्ति में लग जाते हैं।

इनका रथ सात हरित अश्वों द्वारा ले जाया जाता है (भद्रा अश्वा हरितः सूर्यस्य)। वरुण देव सूर्य के पथ का निर्माण करते हैं। पूषा को इनका सन्देशवाहक कहा गया है। सूर्य वस्तुतः उषा के प्रेमी हैं, इसलिए हमेशा उसके पीछे जाते हैं,[1] किन्तु कुछ स्थलों पर इन्हें सूर्य की पत्नी भी बताया गया है (वाजिनीवती सूर्यस्य योषा)। सूर्य देव वस्तुतः अदिति तथा द्यौ के पुत्र हैं, इसीलिए इन्हें आदित्य या आदितेय भी कहा है। निरुक्तकार ने आदित्य के तीन कर्मों का उल्लेख किया है-- (क) जल को ग्रहण करना (ख) किरणों के माध्यम से जलों को धारण करना (ग) गूढ़ रहस्यों को प्रकाशित करना।

1 सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्येति पश्चात्। ऋ.– 1/115/2

सूर्यदेव अन्धकार को दूर भगाकर, सम्पूर्ण संसार को दृष्टि प्रदान करते हैं। सम्पूर्ण ऋग्वेद में सूर्य को एक कल्याणकारी देवता के रूप में स्वीकार किया गया है। इतना ही नहीं, इन्हें कहीं भी तीक्ष्ण धूप से पीड़ा देने वाला नहीं बताया है, जबकि अथर्ववेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में इनके इस रूप का भी वर्णन हुआ है। वैदिक ऋषि की मान्यता है कि सूर्यदेव अपने उपासकों के रोगों तथा दुःस्वप्नों का विनाश करके, उन्हें आरोग्य प्रदान करते हैं तथा दिनों को नापते हुए वे इनकी आयु का विस्तार करते हैं।

वस्तुतः संसार के सभी प्राणी सूर्य पर ही अवलम्बित हैं। यहाँ पर तो आकाश को भी सूर्य के द्वारा ही स्थम्भित बताया गया है। समस्त भुवनों को धारण करने के कारण, कुछ स्थलों पर इन्हें 'विश्वकर्मा' संज्ञा भी प्रदान की गयी है। यहाँ उदय के अवसर पर इनसे प्रार्थना की गयी है कि ये मित्र, वरुण तथा दूसरे देवों के सामने मनुष्यों को निरपराध घोषित करें। इसके अलावा यहाँ पर इन्हें आकाश में उड़ने वाला पक्षी तथा अनेक रंगों का अश्व भी कहा गया है। ध्यातव्य है कि पाश्चात्य विद्वानों ने सूर्य की व्युत्पत्ति 'स्वर्' से मानी है, जिनके समानान्तर अवेस्ता में 'ह्वरे' हैं, जो वस्तुतः अहुरमज्दा के नेत्र हैं। ग्रीक भाषा का हेलियोस् शब्द भी इसी से सम्बद्ध प्रतीत होता है।

(6) विष्णु– ब्राह्मण–ग्रन्थों तथा पुराणों में अत्यधिक महत्त्व रखने वाले विष्णु का स्थान ऋग्वेद में गौण ही रहा है, क्योंकि केवल पाँच सूक्तों में ही इनकी अकेले स्तुति की गयी है, जबकि कुछ सूक्तों में इनका वर्णन आंशिकरूप से हुआ है। विद्वानों ने विष्णु पद की व्युत्पत्ति √विष् धातु से मानी है, जिसके अनुसार इन्हें तीनों लोकों को व्याप्त करने वाले देवता कहा जा सकता है। धातुपाठ में इसे 'विप्रयोगे' अर्थ में प्रयुक्त माना है (विष विप्रयोगे)।

ऋग्वेद के अनुसार– विष्णु तीन पगों द्वारा तीनों लोकों की परिक्रमा करते हैं, उनकी गति तथा पदक्रम अत्यधिक विशाल है। इसीलिए उन्हें यहाँ पर 'उरुगाय' और 'उरुक्रम' कहा गया है। इनके दो पदक्रम ही मानव दृष्टि से देखे जा सकते हैं, जबकि तृतीय पग

इन दोनों से सर्वथा ऊपर है, जिसे केवल मेधावी लोग ही देख सकते हैं, वह स्थान द्युलोक में स्थित नेत्र के समान प्रकाशित है।[1]

द्युलोक में स्थित यह आवास विष्णु को अत्यधिक प्रिय है, जहाँ इनके उपासक रमण करते हैं, मधु का उद्गम भी यही है (विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः)। यहीं पर देवगण भी आनन्दित होते हैं। यहाँ पर बड़े बड़े सींगों वाली गाएँ भी रहती हैं (गावो भूरिशृङ्गाः)। ऐसा प्रतीत होता है कि इसी के आधार पर उपनिषदों तथा पुराणों में विष्णु के गोलोक धाम की परिकल्पना की गयी है। ऋग्वेद में विष्णु के ही तीन पदों में सभी भुवनों के निवास की बात भी कही गयी है–

यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा।[2]

इनके उत्तम पद में मधु का उत्स होने से दूसरे पद भी मधु से पूर्ण ही हैं (यस्य त्री पूर्णा मधुना पदानि)। वस्तुतः विष्णु के ये तीनों पद सूर्य के पथ के द्योतक हैं। आचार्य यास्क ने इन तीन पदक्रमों की व्याख्या के प्रसङ्ग में शाकपूणि का मत उद्धृत किया है।[3] विद्वन्मान्यता सूर्य की कल्पना से ही विष्णु के विकास को मानने की पक्षधर रही है,[4] क्योंकि सूर्य यदि शीघ्रता से चलने वाले ज्योतिःपुञ्ज हैं, तो विष्णु भी अपने विस्तृत क्रमण से सम्पूर्ण विश्व की परिक्रमा करते हैं। ऋग्वेद के एक मन्त्र में उल्लेख किया गया है कि पीड़ित मनु के लिए उन्होंने पार्थिव लोकों की तीन बार परिक्रमा की,[5] इसी आधार पर कुछ विद्वान् वेदों में इतिहास की बात करते हैं।

इसीप्रकार यहाँ अन्यत्र मनुष्यों का आवास स्थापित करने के लिए, विष्णु द्वारा पृथिवी की परिक्रमा करने का कथन भी किया गया

1. तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
   दिबीव चक्षुराततम्।। ऋग्वेद– 1/22/20
2. ऋग्वेद– 1/154/2
3. यदिदं किंच तद्विक्रमते विष्णुः त्रिधा निधत्ते पदं त्रेधाभावाय पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः । निरुक्त– 12/19।
4. ऋक्सूक्तनिकरः, डॉ. उमाशंकर 'ऋषि', चौखम्भा ओरियन्टालिया दिल्ली, पृष्ठ–8[illegible]
5. [illegible] विममे पार्थिवानि त्रिश्चिद् विष्णुर्मनवे वाधिताय। ऋ.–6/49/13

है। इन्द्र के साथ 'उरुक्रमण' करते हुए, इन्होंने मनुष्यों के जीवन हेतु लोकों का विस्तार किया है, जिसमें इनके वामनावतार के मूल के दर्शन किए जा सकते हैं। शतपथ ब्राह्मण आदि उत्तरवर्ती ग्रन्थों में विष्णु के वामनरूप की विस्तार से चर्चा हुई है।[1]

उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद में इन्द्र के साथ इनकी मित्रता का कथन अनेक बार किया गया है (इन्द्रस्य युज्यः सखा[2])। एक स्थल पर वृत्र–वध प्रसंग में इन्द्र, विष्णु से कहते हैं कि– 'हे मित्र! तुम तो लम्बे डग भरो।[3] वस्तुतः यहाँ पर इन दोनों ही देवों ने मिलकर 'शम्बर' नामक राक्षस के 99 दुर्गों को तोड़ा है तथा वृत्र का वध किया है तथा दासों पर विजय प्राप्त की है, साथ ही, 'वर्चिन्' के सहयोगियों को भी विनष्ट कर दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसी मित्रता के आधार पर पुराणों में विष्णु को इन्द्र का अनुज कहा गया है।

विष्णु का वाहन गरुड़ है, जो सम्पूर्ण पक्षी जाति में उत्कृष्ट है और अग्नि के समान ज्योतिष्मान् है। इसे गरुत्मत् तथा सुपर्ण भी कहा गया है। इन्हीं दोनों पदों का प्रयोग यहाँ पर पक्षीरूप सूर्य के लिए भी किया गया है, जिस आधार पर कुछ विद्वानों ने विष्णु तथा सूर्य इन दोनों देवों को एक ही माना है। इसप्रकार सम्पूर्ण संसार में अपने पद क्रमों से व्याप्त होने वाले विष्णुदेव को वैदिक युग के महत्त्वपूर्ण देवों में स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु परवर्ती साहित्य अर्थात् पुराणों में इनका अधिक महिमामण्डन हुआ है, क्योंकि यहाँ पर तो ये समय–समय पर अवतार ग्रहण करके संसार के दुःखों का मोचन करते हैं।

(7) इन्द्र– उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद के सभी देवों में इन्द्र का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि कुल 1028 सूक्तों में से लगभग 250 सूक्त इन्हीं के लिए प्रयुक्त हुए हैं। दूसरे शब्दों में, ऋग्वेद का

1. शतपथ ब्राह्मण– 1/2/5/5 । तैत्तिरीय संहिता– 2/1/3/1 ।
   तैत्तिरीय ब्राह्मण– 1/6/1/5 ।
2. ऋग्वेद– 1/22/19
3. अथाब्रवीद् वृत्रमिन्द्रे हनिष्यन्त्सखे विष्णो वितरं विक्रमस्व। ऋ.–4/18/11

लगभग 1/4 भाग इन्द्र की महिमा से मण्डित है। इनके अतिरिक्त कुछ सूक्तों में यह दूसरे देवों के साथ भी स्तुत हुआ है, जिन्हें मिला कर यह संख्या 300 तक पहुँच जाती है।

अतुल पराक्रम सम्पन्न इन्द्र में बड़े–बड़े कार्यों को करने की अद्भुत सामर्थ्य है, जिसके कारण यह युद्धों में असुरों पर विजय प्राप्त करता है। वर्षा को रोकने वाले असुरों को विनष्ट करने वाला यह विद्युत् का देवता भी है। इसे सोमपान अत्यधिक प्रिय रहा है, जिसके कारण इसमें अद्भुत शक्ति का संचार होता है।

इनका प्रमुख शस्त्र वज्र है, जिसे त्वष्टा द्वारा बनाया गया है, इनके सुनहरे रथ को हरे रंग के घोड़े खींचते हैं, इनके रथ का निर्माण देवों के शिल्पी ऋभुओं द्वारा किया गया है, इनके पास एक विशाल सेना है, द्युलोक तथा पृथिवीलोक भी इनकी शारीरिक क्षमता के समक्ष काँपते हैं अर्थात् भयभीत रहते हैं। अपने कार्यों द्वारा ही यह सभी देवों का राजा तथा पूजनीय है–

यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान्क्रतुना पर्यभूषत्।
यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः।।[1]

वैदिक ऋषि का मानना है कि इन्द्र ने ही हिलती हुई पृथ्वी को दृढ़ किया है तथा उड़ने वाले पर्वतों को उनके पंख काटकर स्थिर किया। इतना ही नहीं, विस्तृत अन्तरिक्ष का निर्माण करने वाले इन्द्र ने द्युलोक को धारण किया हुआ है। इसके अलावा जलों को रोकने वाले वृत्र नामक राक्षस को मारकर, इन्द्र ने ही सात नदियों को बहाया था।

इसीप्रकार 'बल' नामक राक्षस का वध करके, गुफा में रोकी गयीं, गायों को मुक्त कर दिया, साथ ही, यहाँ इसे अग्नि का आविष्कारक भी बताया गया है।[2] इसके अतिरिक्त इन्द्र अनेक रूपों को धारण करने में भी समर्थ है, यही कारण है कि उसे देखने वाला

1. ऋग्वेद– 2/12/1
2. ऋग्वे[illegible]12/3

प्रत्येक व्यक्ति उसके किसी एक रूप से सहमत नहीं होता है। शत्रुओं पर इसका अद्भुत नियन्त्रण है। सुन्दर ठोड़ी वाला इन्द्र, समृद्धिशाली, निर्धन, स्तोता ब्राह्मण को प्रेरणा देने वाला और सोम का अभिषेक करने वाले यजमान का रक्षक है।

संसार के सभी गाँव, घोड़े, रथ, गाय आदि उसी के अनुशासन का पालन करते हैं। इतना ही नहीं, यही इन्द्र, सूर्य तथा उषस् को जन्म देने वाला भी है–

यस्याश्वासः प्रदिशि यस्य गावो यस्य ग्रामा यस्य विश्वे रथासः।
यः सूर्य य उषसं जजान यो अपां नेता स जनास इन्द्र।।[1]

इसके अलावा द्युलोक, पृथिवीलोक, उत्तम, अधम शत्रु, आमने–सामने खड़ी दो सेनाएँ, यजमान आदि सभी, जिसका अपनी रक्षा के लिए आह्वान करते हैं तथा द्युलोक एवं पृथ्वीलोक जिसे झुककर प्रणाम करते हैं, पर्वत भी जिससे भयभीत रहते हैं, दृढ़ अङ्गों वाले, वज्र के समान कठोर भुजाओं वाले, हाथ में वज्र को धारण करने वाले, इन्द्र को सोमपान बहुत अधिक प्रिय है। वस्तुस्थिति तो यही है कि ऋग्वेद के मन्त्रों में इन्द्र का अत्यधिक आकर्षक तथा अद्भुत स्वरूप वर्णित हुआ है, उसके सभी कार्य प्रशंसनीय हैं, वे ही सर्वोच्च विजेता हैं, इसीलिए उनसे यहाँ पर अनेकशः रक्षा की कामना की गयी है।

(8) रुद्र– इस देवता के विषय में ऋग्वेद में अधिक वर्णन नहीं हुआ है, क्योंकि यहाँ पर इसकी तीन सूक्तों (1/114, 2/33, 7/46) में स्वतन्त्ररूप से तथा अन्यत्र सात मन्त्रों में अन्य देवों के साथ स्तुति की गयी है, किन्तु फिर भी यहाँ इसके अत्यधिक शक्तिसम्पन्न तथा भयंकर रूप को ही चित्रित किया गया है। ऋग्वेद में इसे मरुतों का पिता तथा स्वामी कहा गया है।[2] इसके अलावा यहाँ पर इसे अत्यधिक कल्याणकारी औषधियों से सम्पन्न बताया है और इन उत्तम औषधियों द्वारा सौ हेमन्त ऋतुओं तक जीवित रहने की कामना भी की गयी है।[3]

1. ऋग्वेद– 2/12/7
2. आ ते पितर्मरुतां सुम्नमेतु । ऋग्वेद– 2/33/1
3. त्वादत्तेभी रुद्र शंतमेभिः शतं हिमा अशीय भेषजेभि। ऋग्वेद– 2/33/2

रुद्र को यहाँ, उत्पन्न हुए सम्पूर्ण संसार में सर्वाधिक ऐश्वर्यशाली तथा सर्वश्रेष्ठ कहा गया है, यह वज्र को धारण करता है, जिसके माध्यम से वह अपने स्तोताओं की रक्षा करता है। इतना ही नहीं, ऋग्वेद में इसका अत्यधिक कमनीयरूप भी वर्णित हुआ है, क्योंकि यह सुन्दर ठोड़ी वाला है, लम्बे केशों को धारण किए हुए, यह मध्याह्न के सूर्य के समान दीप्तिमान् है, यह दृढ़ अङ्गों से युक्त है। सभी का पालन–पोषण करने वाले रुद्र के शरीर का रङ्ग यहाँ भूरा बताया गया है। यह चमचमाते हुए स्वर्णाभूषणों को धारण करता है तथा हमेशा ही बलिष्ठ बना रहता है–

स्थिरेभिरङ्गैः पुरुरूप उग्रो बभ्रुः शुक्रेभिः पिपिशे हिरण्यैः।
ईशानादस्य भुवनस्य भूरेर् न वा उ योषंद्रुद्रादसुर्यम्।।[1]

वज्र के अलावा रुद्र धनुषबाण को भी धारण करता है। इसे यहाँ सभी देवों में योग्य तथा पूजनीय बताया है। अनेकरूपों वाले सोने के हार को धारण करने वाला यह, इस विशाल संसार की रक्षा करता है। सिंह के समान भयंकर रुद्र, नित्य ही युवा बना रहता है तथा रथ पर आरूढ़ होकर उग्ररूप धारण करके, शत्रुओं को विनष्ट करता है। ऋग्वेद में स्तोताओं से इसीप्रकार के स्वरूप वाले रुद्र की स्तुति करने के लिए कहा गया है कि–

स्तुहि श्रुतं गर्तसदं युवानं मृगं न भीममुपहत्नुमुग्रम्।
मृळा जरित्रे रुद्र स्तवानोऽन्यं ते अस्मन्निवपन्तु सेनाः।।[2]

ऋग्वेद में रुद्र से सूर्य के दर्शनों से वियुक्त न करने की प्रार्थना की गयी है– 'मा नः सूर्यस्य संदृशो युयोथाः'[3] साथ ही, वीर सन्तानों के लिए उत्कृष्ट बुद्धि तथा उनके द्वारा शत्रुओं के पराजय की कामना भी की गयी है। यहाँ पर रुद्र से द्वेष करने वाले, शरीर में व्याप्त होने वाले, अनेक प्रकार के रोगों तथा पापों को पूर्णरूप से नष्ट करने के लिए भी कहा है।[4]

---

1. ऋग्वेद– 2/33/9
2. ऋग्वेद– 2/33/11
3. ऋग्वेद– 2/33/1
4. व्यस्मद [illegible] रं व्यंहो व्यमीवाश्चादयस्वा विषूचीः।।

रुद्र का सबसे बड़ा वैशिष्ट्य है कि वे अनुचित प्रकार से किए गए, नमस्कारों द्वारा क्रोधित हो जाते हैं तथा दूसरे छोटे देवों के साथ आह्वान किए जाने पर भी नाराज़ हो उठते हैं। उल्लेखनीय है कि यहाँ पर इन्हें चिकित्सकों में सर्वाधिक श्रेष्ठ चिकित्सक बताया गया है।[1] रुद्र चरु, पुरोडाश आदि से युक्त हवियों द्वारा प्रसन्न होते हैं। इन्हें स्तुतियों द्वारा क्रोधरहित किया जा सकता है। कोमल उदर वाले रुद्र से यहाँ बार–बार स्तोताओं की हिंसा न करने और उन्हें सुखी बनाने की प्रार्थना भी की गयी है।

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद के एक मन्त्र में रुद्र को चिकित्सा करने वाले, सुख प्रदान करने वाले अपने हाथ से, रक्षा करने का निवेदन किया गया है।[2] यहाँ इन्हें सर्वाधिक ओजस्वी भी बताया है।[3] इसीप्रकार ऋग्वेद में एक स्थल पर रुद्र की ऐसे स्नेहिल पिता के रूप में परिकल्पना की गयी है, जो प्रणाम करते हुए, बालक पर अपना वात्सल्यभाव उड़ेल रहा है।[4] इतना ही नहीं, रुद्र को यहाँ सज्जनों का पालन करने वाला तथा अत्यधिक धन प्रदान करने वाला कहा गया है। ये प्राचीन समय में मनु द्वारा वरण की गयी औषधियों को धारण करने वाले हैं। यहाँ पर इनसे बार–बार पुत्र तथा पौत्रों को सुखी बनाने की प्रार्थना भी की गयी है।

(9) पर्जन्य– ऋग्वेद के अन्तरिक्ष स्थानीय देवों में पर्जन्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि ये यहाँ पर वृष्टि को करने वाले मेघों के प्रतिनिधि देवता हैं। इनकी स्तुति यहाँ केवल तीन सूक्तों में की गयी है। ऋग्वेद के ही मन्त्रों से अथर्ववेद में भी एक सूक्त में इनका स्तवन किया गया है। उल्लेखनीय है कि पर्जन्य के मन्त्रों में भी उषा देवी के समान ही काव्य–सौन्दर्य के दर्शन होते हैं।

---

1. मा त्वा रुद्र चुक्रुधामा नमोभि र्मा दुष्टुती वृषभ मा सहूती।
उन्नो वीराँ अर्पय भेषजेभिर्भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि।। ऋग्वेद– 2/33/4
2. ऋग्वेद– 2/33/7 ।
3. ऋग्वेद– 2/33/10 ।
4. ऋग्वेद– 2/33/12 ।

निरुक्तकार (10/10) ने पर्जन्य के चार निर्वचन प्रस्तुत किए हैं, तदनुसार– (क) संतुष्ट करना अर्थ में प्रयुक्त √तृप् धातु का वर्ण विपर्यय होकर, जनेभ्यो हितः, इस अभिप्राय में 'जन्य' के योग से इस शब्द की व्युत्पत्ति होती है।[1] (ख) इसके अतिरिक्त जो श्रेष्ठ विजेता हो वह पर्जन्य है।[2] (ग) इसीप्रकार जो श्रेष्ठ उत्पादन करने वाला हो, वह पर्जन्य है[3] तथा (घ) जो जलों का प्रकृष्टरूप से अर्जन अर्थात् संग्रह करता है, वह पर्जन्य है।[4]

हम देखते हैं कि ये निर्वचन वस्तुतः पर्जन्य के कार्यों को दृष्टिगत रखते हुए ही किए गए हैं। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने इनके पर्जन्य नामकरण में 'जन्य' अर्थात् उत्पाद्य चराचर पदार्थों को पूर्ण करने को कारणरूप में माना है।[5]

वैदिक ऋषि ने यहाँ पर्जन्य को इस पृथिवी को उर्वर बनाने वाला कहा है।[6] मरुद्गण पर्जन्यों के साथ मिलकर दिन में भी अन्धकार उत्पन्न करते हैं तथा भूमि को आर्द्र बनाते हैं–

दिवा चित्तमः कृण्वन्ति पर्जन्येनोदवाहेन।
यत्पृथिवीं व्युन्दन्ति।। ऋग्वेद– 1/38/9

इसप्रकार यहाँ मरुतों को पर्जन्यों का सहचर कहा गया है। वैदिक ऋषि का मानना है कि मरुत् द्युलोक के अखण्ड कोश को उड़ेल कर दोनों लोकों के बीच में इन पर्जन्यों की सृष्टि करते हैं, जिससे शुष्क प्रदेशों में भी वृष्टियाँ होने लगती हैं। यहाँ पर पर्जन्यों द्वारा प्रेरित वाणी का प्रयोग मेंढकों द्वारा करने की बात का भी उल्लेख हुआ है।[7] इसके अतिरिक्त गर्जन करने और वनस्पतियों को गर्भ धारण धारण कराने के कारण यहाँ पर्जन्यों को 'वृषभ' संज्ञा भी दी गयी है।[8]

---

1. पर्जन्यः तृपेः आद्यन्तविपरीतस्य, तर्पयित्वा जन्यः, इति।
2. परो जेता वा।
3. परो जनयिता वा।
4. प्रार्जयिता वा रसानाम्।
5. जन्यान् पृणाति पूर्णान् करोति, इति पर्जन्यः
6. [illegible]मिं पर्जन्या जिन्वन्ति। ऋग्वेद-- 1/164/51
7. [illegible]र्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः। ऋग्वेद–7/103/1
8. [illegible]–5/83/1

इसीप्रकार यहाँ कहा गया है कि पर्जन्य जब गरजते हैं तो ये अपने शत्रुओं का संहार करते हैं, उस समय सम्पूर्ण संसार आमोद से परिपूरित हो जाता है। इसप्रकार हम देखते हैं कि ऋग्वेद में पर्जन्य मुख्यरूप से वृष्टि के देवता के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। अपने जलमय रथ पर आरूढ़ होकर ये चारों दिशाओं में दौड़ते हैं और इस जलपात्र के मुख को खोलकर, इन्हें नीचे पृथिवी पर लुढ़का देते हैं। इसके अलावा अपने वृष्टि–दूतों को वे उसीप्रकार प्रेरित करते हैं, जैसे– रथी अपने अश्वों को चाबुक मारकर प्रवृत्त करता है।[1] इनके द्वारा मूसलाधार वर्षा करने पर दूर कहीं सिंह के समान गर्जन की ध्वनि उठती है। ये पर्जन्य वनस्पतियों, दानवों एवं पापियों का वध भी करते हैं। इसीलिए इनके कठोर अस्त्र से सभी भयभीत रहते हैं। जल की वृष्टि करके, ये दोनों लोकों को विद्युत् द्वारा चेतन करते हैं।

ध्यातव्य है कि वृष्टि के देवता होने से ये स्वाभाविकरूप से वनस्पतियों को उत्पन्न करने वाले तथा पोषक हैं और सभी प्राणियों के भोजन हेतु अनेक प्रकार की वनस्पतियों के जन्मदाता भी हैं, साथ ही, औषधियों को अङ्कुरित एवं पल्लवित करने वाले हैं। इन्हीं की महिमा से दर्भ की उत्पत्ति होती है, ये केवल वनस्पतियों में ही गर्भ धारण नहीं कराते हैं, अपितु यही कार्य ये गायों, अश्वों तथा स्त्रियों में भी करते हैं।[2] ये जलों के एकच्छत्र सम्राट् हैं (यो विश्वस्य जगतो देव ईशे), यहाँ यहाँ पर पृथिवी को इनकी भार्या बताया गया है। ये स्वयं 'दिवस्पुत्र' हैं और इनका सम्बन्ध वात, मरुत्, अग्नि एवं इन्द्र के साथ है। ऋग्वेद में एक स्थल पर जलों से भरे हुए पर्जन्यों की उपमा 'मशक' (जल भरने का चमड़े का पात्र) से दी गयी है (दृतिं तु कर्म विषितं न्यञ्च)।

(10) मण्डूक– जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि वैदिक ऋषियों ने प्रकृति के प्रत्येक उपादान में देवत्व के दर्शन किए हैं। अचेतन पदार्थ अक्ष तथा सोमादि इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। ठीक इसीप्रकार वर्षा होने के पश्चात् पृथ्वी को भेदकर बाहर निकलने वाले मेंढकों को

---

1. ऋग्वेद– 5/83/3
2. ऋग्वेद– 7/102/2

भी वसिष्ठ ऋषि ने देवतारूप में प्रस्थापित करते हुए, मण्डूक सूक्त के दस मन्त्रों में इनकी स्तुति की है, जिसके आधार पर इनका स्वरूप इसप्रकार कहा जा सकता है–

ये मण्डूक देव हरे तथा चितकबरे होते हैं तथा पृथिवी के अन्दर स्थित बिलों में वर्षपर्यन्त ठीक उसीप्रकार निवास करते हैं, जैसे– संवत्सर नामक व्रत का पालन करने वाले ब्राह्मण एकान्तवास का आचरण करते हैं। वर्षाऋतु के आगमन पर ये मेघों को प्रसन्न करने वाली वाणी का उच्चारण करने लगते हैं।[1] इसके अतिरिक्त सूखे जलाशयों में शयन करने वाले ये मण्डूक देवता, जब आकाश से गिरने वाली दिव्य वर्षा के जल के स्पर्श का अनुभव करते हैं, तो प्रसन्नता से इनके मुख से बछड़े से युक्त गायों के समान शब्द, अपने आप ही एक साथ निकलने लगता है।

जलों की कामना करने वाले प्यासे ये मण्डूक देव, वर्षा के जल के स्पर्श से मानो झूम उठते हैं और अख्खल–अख्खल शब्द का मनोरम उच्चारण करते हुए आपस में मानो एक दूसरे से लिपट जाते हैं–

यदीमेनाँ उशतो अभ्यवर्षीत्तृष्याव्रतः प्रावृष्यागतायाम्।
अख्खलीकृत्या पितरं न पुत्रो अन्यो अन्यमुप वदंतमेति।।[2]

वर्षा के जल में प्रसन्नतापूर्वक स्नान करते हुए, कूदते हुए, चितकबरे रंग के मण्डूक, हरे रंग के दूसरे मण्डूकों के साथ, अपनी वाणी मिलाकर, टर्राने लगते हैं। इस प्रसंग में ऋषि ने एक मेंढ़क द्वारा दूसरे मेंढ़क के टर्राने की ध्वनि के अनुकरण की उपमा सिखाने वाले शिक्षक की उस वाणी से दी है, जो सीखने वाला शिष्य अनुकरण करते हुए बोलता है–

यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः।
सर्वं तदेषां समृधेव पर्व यत्सुवाचो वदथ नाध्यप्सु।।[3]

1 ऋग्वेद– 7/103/1
2 ऋग्वेद– 7/103/3
3 ऋग्वेद– 7/103/5

ये सभी मण्डूक देवता बरसते हुए जलों में कूदते हुए टर्राते हैं। उस समय इनका शरीर विशेषरूप से फूल जाता है। इनमें से कोई तो गाय के समान वाणी में बोलता है, तो दूसरा कोई बकरे के समान। भिन्न–भिन्न रङ्गों वाले होते हुए भी ये सभी 'मण्डूक' अर्थात् मेंढ़क नाम से ही जाने व कहे जाते हैं।[1] उल्लेखनीय है कि इसी प्रसंग में वैदिक ऋषि ने इनकी ध्वनि की उपमा, अतिरात्र तथा सोमयाग में ब्राह्मण ऋत्विकों द्वारा किए गए मन्त्रों के उच्चारण से दी है।

वर्षा के दिनों में टर्राते हुए ये मेंढ़क जल से भरे हुए तालाब के चारों ओर एकत्र हो जाते हैं। वैदिक ऋषि के अनुसार नेतृत्व की क्षमता से युक्त ये देवों द्वारा बनाए गए, ऋतु आदि के नियमों की रक्षा करते हैं, क्योंकि ये बारह महीनों वाले वर्ष की ऋतुओं की हिंसा नहीं करते हैं तथा वर्षा के आने पर ही ये अपने बिलों से बाहर निकलते हैं,[2] जिसे नियमों की रक्षा के रूप में देखा गया है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस सूक्त के मात्र नौ मन्त्रों में ऋषि वसिष्ठ द्वारा मण्डूक देवों के क्रियाकलापों की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हुए, अन्तिम दशम मन्त्र में उनसे बार–बार धनों को प्रदान करने की प्रार्थना भी की गयी है और उनसे सैंकड़ों गाएँ प्रदान करने और आयु–वृद्धि के लिए भी कहा गया है–

गोमायुरदादजमायुरदात्पृश्निरदाद्धरितो नो वसूनि।
गवां मण्डूका ददतः शतानि सहस्रसावे प्र तिरंत आयुः।।[3]

(11) सोम– यह भी ऋग्वेद का प्रमुख देवता है, क्योंकि यहाँ पर 120 सूक्तों में इसकी स्तुति की गयी है। इतना ही नहीं, इस वेद के सम्पूर्ण नवम मण्डल में सोम देव की ही प्रशंसा की गयी है। इसप्रकार सूक्तों की संख्या के आधार पर महत्त्व की दृष्टि से अग्नि के बाद सोम का ही स्थान आता है। ऋग्वैदिक मन्त्रों के अनुसार सोम वस्तुतः एक वनस्पति है, जो प्रायः मुञ्जवान् पर्वत पर उगती है, इसी को

1. ऋग्वेद– 7/103/6
2. ऋग्वेद– 7/103/9
3. ऋग्वेद– 7/103/10

कूट–पीसकर तथा निचोडकर इसका रस निकाला जाता था, यह रस अत्यधिक शक्ति प्रदान करने वाला है। इसीलिए इन्द्र को सोमरस अत्यन्त प्रिय रहा है, क्योंकि ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में उनसे इसे ग्रहण करने का निवेदन किया गया है।

इसके अतिरिक्त विशेष यज्ञों के अवसर पर भी देवों की अर्चना करके, उन्हें सोमरस पीने के लिए दिया जाता था, क्योंकि दूसरे सभी देवता भी सोमपान करके प्रसन्न होते थे। इसप्रकार यह सोम सभी प्रभावशाली देवों को प्रसन्न करने वाला, उन्हें शक्ति तथा स्फूर्ति प्रदान करने वाला था। इसलिए वैदिक ऋषियों ने इसमें देवत्व की कल्पना करके इसकी बार–बार स्तुति की है। उनके अनुसार सोम की धारा सम्पूर्ण मानवजाति का अवलोकन करती है। बृहस्पति के गर्जन से सोम प्रदीप्त होता है। इतना ही नहीं, सोम का साम्राज्य तो सभी प्रकार के यज्ञों में फैला हुआ है–

सोमस्य धारा पवते नृचक्षस ऋतेन देवान्हवते दिवस्परि।
बृहस्पते रवथेना वि दिद्युते समुद्रासो न सवनानि विव्यचुः।।[1]

उल्लेखनीय यह भी है कि यहाँ पर सोम देवता को स्तुति करने वाले यजमान को अन्न प्रदान करने वाला कहा गया है, इसलिए यहाँ पर इसके लिए 'वाजिन्' विशेषण का प्रयोग किया है। सोम वस्तुतः दान देने वाले की आयु तथा यश में वृद्धि करने वाला है।[2] उल्लेखनीय यह भी है कि यह तो वस्तुतः इन्द्र के अतिरिक्त स्वर्ग में निवास करने वाले दूसरे देवों को भी आनन्द प्रदान करता है 'इन्द्रं सोम मादयन्दैव्यं जनं' (9/80/5)। इसप्रकार हम देखते हैं कि ऋग्वेद में सोम देवता की प्रस्तुति दूसरे देवों से किञ्चित् भिन्नरूप में की गयी है।

(12) अक्ष– इसी प्रसङ्ग में उल्लेखनीय यह भी है कि ऋग्वेद के एक सूक्त (10/34) के चौदह मन्त्रों में अक्ष अर्थात् जुए में प्रयोग किए जाने वाले पासों की भी स्तुति की गयी है, जो वैदिक ऋषियों की

---

1 . ऋग्वेद– [illegible]80/1
2 . ऋग्वे[illegible]/2

अचेतन पदार्थों में भी देवत्व की भावना के दर्शनों का परिचायक कहा जा सकता है। इसके अलावा ऐसा भी प्रतीत होता है कि वैदिककाल में जुआ खेलने की अत्यधिक परम्परा रही तथा जुए में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करने वाले 'अक्ष' अर्थात् पासों के माध्यम से ही जुआरी की हार या जीत का फैसला होता था। इसीलिए वैदिकऋषि ने उनमें देवत्व का आरोप करके, उनकी स्तुति की है।

इस सूक्त के ऋषि 'कवष ऐलूष' हैं, जिन्होंने अत्यधिक भावुकता के साथ अक्षों की महिमा का कथन किया है। यहाँ पर इनकी संख्या तिरेपन बतायी गयी है, जिनकी उपमा सत्य नियमों वाले सभी को प्रेरणा प्रदान करने वाले, सूर्य देवता से दी है। इन पासों की विशेषता है कि ये क्रोधी तथा भयंकर व्यक्ति के सामने भी नहीं झुकते हैं। इतना ही नहीं, सामर्थ्य सम्पन्न राजा भी इन्हें नमन करते हैं–

त्रिपञ्चाशः क्रीळति व्रात एषां देव इव सविता सत्यधर्मा।
उषस्य चिन्मन्यवे ना नमन्ते राजा चिदेभ्यो नम इत्कृणोति।।[1]

वैदिक ऋषि कहता है कि यह विभीटक अर्थात् बहेड़े द्वारा बनाए गए, पासों की ही महिमा है कि जुआ खेलने के लिए पट्ट पर फैंके गए पासे, जुआ खेलने वाले को ठीक उसीप्रकार मदमत्त कर देते हैं, जिस प्रकार मुञ्जवान् पर्वत पर उत्पन्न होने वाला सोम उसका पान करने वाले को मदोन्मत्त कर देता है। यह जुआरी की रातों की नींद तथा दिनों का चैन छीन लेता है।[2] इन्हीं पासों के प्रभाव में आकर जुआरी व्यक्ति प्रेम करने वाली, श्रेष्ठ गुणों से युक्त, अपनी पत्नी को भी जुए में दाँव पर लगाकर, हारने के बाद अत्यधिक दुःखी होता है।

इन पासों के चक्कर में पड़े हुए व्यक्ति को उसकी सास भी प्रेम नहीं करती है तथा पत्नी भी उसके विरुद्ध आचरण करती है, यहाँ तक कि ऐसे व्यक्ति को तो कोई भी परान्द नहीं करता है।[3] जुए का यह बलवान् पासा, यदि किसी व्यक्ति के धन के ऊपर लालचभरी दृष्टि

---

1 . ऋग्वेद– 10/34/8
2 . ऋग्वेद– 10/34/1
3 . ऋग्वेद– 10/34/3

डाल देता है, तो वह अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति को जुए में हार जाता है और उसका धन जीतने वाले दूसरे जुआरी, उसके केश खींचकर उसे अपमानित करते हैं। यहाँ तक कि उसके माता, पिता, भाई–बहन आदि सभी उसके साथ अपरिचित के समान व्यवहार करते हैं–

पिता माता भ्रातर एनमाहुर्न जानीमो नयता बद्धमेतं।।[1]

वैदिक ऋषि का मानना है कि जब व्यक्ति को इन पाशों से जुआ खेलने की लत पड़ जाती है तो वह अनेक बार न खेलने का दृढ़ निश्चय करने पर भी भूरे रङ्ग के अक्षपट्ट पर फेंके जाते हुए, पासों के शब्दों को सुनकर, अपने आपको रोक नहीं पाता है तथा ठीक उसी प्रकार जुएखाने की ओर जाता है, जैसे– व्यभिचारिणी स्त्री अपने ग्राहक के पास में पहुँच जाती है।[2]

यहाँ पर पासों में अङ्कुश की कल्पना भी की गयी है, क्योंकि जिसप्रकार अंकुश हाथी पर नियन्त्रण रखता है, वैसे ही अङ्कुश के समान पासे जुआरी को अपने वश में रखते हैं, इन्हें यहाँ चाबुक से युक्त बताया गया है, क्योंकि जिसप्रकार चाबुक गाय, बैल, घोड़े आदि का चलाता है, वैसे ही ये पासे जुआरी पर शासन करते हैं, उसे अपनी इच्छा के अनुसार परिचालित करते हैं। ये पासे वस्तुतः जुआरी को जड़मूल से बरबाद करने वाले, उसे सन्ताप देने वाले और उसके परिजनों को पीड़ा पहुँचाने वाले हैं।[3]

इन पासों की विशेषता है कि ये अक्षपट्ट पर डाले जाने के साथ ही, जुआरियों के हृदयों को उद्विग्न कर देते हैं। यद्यपि इनके हाथ नहीं होते हैं, किन्तु फिर भी हाथों वाले जुआरी को ये प्रपीड़ित करते हैं। स्पर्श में शीतल होते हुए भी अङ्गारों के समान ये, जुआरी के हृदय को जला डालते हैं। ऋषि का मानना है कि यह पासों रूपी देवता की ही सामर्थ्य है कि इनकी महिमा से हारा हुआ दुःखी जुआरी चोरी के कामों में लिप्त हो जाता है। सूक्त के अन्त में ऋषि ने इन

1. ऋग्वेद– 10/34/4
2. ऋग्वेद– 10/34/5
3. ऋग्वेद– 10/34/5

महिमाशाली पासों से हाथ जोड़कर विनम्रतापूर्वक मित्रता करने की भी प्रार्थना की है।[1]

ध्यातव्य है कि इसी प्रसङ्ग में जुआरी को भी खेती करके धन कमाने, जुआ न खेलने तथा खेती के कमाए हुए धन से ही सन्तुष्ट रहने का उपदेश भी वैदिक ऋषि देते हैं, क्योंकि ऐसा करने से ही गौ आदि भोग्य–पदार्थों की प्राप्ति होगी तथा दाम्पत्यसुख मिल सकेगा।[2]

(13) संज्ञान– उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद के दशम मण्डल में 191 वाँ सूक्त संज्ञान तथा अग्निदेव से सम्बन्धित है। इसमें भी प्रथम मन्त्र में अग्निदेवता को सम्बोधित किया गया है, जबकि शेष तीन मन्त्र संज्ञान से जुड़े हैं, क्योंकि अग्नि परमेश्वर है, जो सभी लोगों को सद्बुद्धि, विवेक तथा यथार्थ ज्ञान प्रदान करता है, जिसके कारण सभी मनुष्य संज्ञान की सर्जना करने वाले तथा उसे धारण करने वाले बनते हैं। इस सूक्त में वस्तुतः वैदिक ऋषि ने व्यक्ति में उत्तम विवेक तथा श्रेष्ठ भावनाओं में भी देवत्व की दृष्टि रखी है।

इस सूक्त में प्रयुक्त कुल चार मन्त्रों में समाज के सभी लोगों के लिए साथ मिलकर रहने, चलने, चिन्तन करने, बोलने तथा खाने जैसी उत्कृष्ट भावनाओं को मुख्यरूप से अभिव्यक्ति प्रदान की गयी है। इसप्रकार ये सभी भावनाएँ ही वस्तुतः संज्ञान देवता हैं–

संगच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।। ऋ. 10/191/2

इसप्रकार वैदिक ऋषि द्वारा सभी के मन, प्राप्ति, स्तुतियों में समानता की बात का कथन किया गया है, जो उनकी राष्ट्रीय भावनाओं को भी अभिव्यक्ति प्रदान करने वाला है, क्योंकि किसी भी राष्ट्र या देश की एकता तभी सम्भव है, जब लोगों में एकता हो तथा इसी से देश की उन्नति और समृद्धि भी सम्भव हो सकती है।[3] इसके

1. मित्रं कृणुध्वं खलु मृळत नो मा नो घोरेण चरताभि धृष्णु।
नि वो नु मन्युर्विशतामरातिरन्यो बभ्रूणां प्रसितौ न्वस्तु।। ऋ.– 10/34/14
2. ऋग्वेद– 10/34/13
3. समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषां।

अलावा संज्ञान देवता के सङ्कल्प, हृदय तथा मन समान होते हैं, जिसके कारण सम्पूर्ण मानव–समाज में सुन्दर ढंग से एकता की स्थिति बनती है।[1]

उपर्युक्त विवरण के आधार पर स्पष्टरूप से कहा जा सकता है कि यहाँ पर संज्ञान देवता वस्तुतः एक भावना है, एक विवेक है, जिसकी प्राप्ति व सिद्धि के लिए ऐसी प्रार्थना करना आवश्यक है।

(14) पुरुष – ऋग्वेद के कुछ सूक्तों में सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी उल्लेख किया गया है, जिनमें पुरुष–सूक्त अत्यधिक प्रसिद्ध है। दशम मण्डल में स्थित इस सूक्त के कुल सोलह मन्त्रों में सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति को यज्ञरूप में वर्णित करते हुए, विराट् पुरुष को इसका कारण बताया है, जो हजारों सिरों वाला, हजार आँखों से युक्त तथा हजारों पैर वाला है। यह परमपुरुष ब्रह्माण्ड को बाहर, भीतर से व्याप्त करके, स्वयं केवल दस अंगुलप्रमाण में स्थित है–

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद् दशांगुलं।।10/90/1।।

जो भी भूतकाल में हुआ तथा जो भी भविष्य में होने वाला है और जो भी दिखायी देने वाला वर्तमान जगत् है, वह सब इस पुरुष की ही महिमा है। यह पुरुष ही अमरत्व का स्वामी भी है, वस्तुस्थिति तो यह है कि जो भी हम देख रहे हैं, केवल वही पुरुष नहीं है, अपितु वह तो इससे भी कहीं अधिक बढ़कर है। वैदिक ऋषि का इस विषय में मानना है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड, उसमें स्थित जड़ तथा चेतन सभी पदार्थ इस पुरुष के 1/4 भाग की ही महिमा हैं, क्योंकि यही भाग सृष्टिकार्य में लिप्त होता है, जबकि शेष 3/4 भाग तो द्युलोक में सृष्टि के कार्य से पूर्णतया रहित होकर,अमर, स्वप्रकाश तथा अविनाशी रूप में विद्यमान है, जो विश्व के गुण–दोषों से पूर्णतया रहित है–

एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।।10/90/3

1. ऋग्वेद– 10/19[illegible] समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि।। ऋ.– 10/191/3

इसी सूक्त में सृष्टि के क्रम का उल्लेख करते हुए वैदिक ऋषि कहते हैं कि उस आदि–पुरुष से विराट्रूप ब्रह्माण्ड शरीर तथा उसका आश्रय लेकर, जीवात्मारूप पुरुष की उत्पत्ति हुई। यह जीवात्मा उत्पन्न होते ही सामर्थ्य में अत्यधिक बढ़ गया और उस स्थिति में इसने भूमि तथा चार प्रकार की सृष्टि जरायुज, स्वेदज, उद्भिज तथा अण्डज का निर्माण किया।

देवों ने भी इस सृष्टियज्ञ में अपना सहयोग प्रदान किया तथा वसन्त को इस यज्ञ का घी, ग्रीष्मऋतु को ईंधन तथा शरद् को यहाँ पर 'हवि' बताया गया है। सर्वप्रथम उत्पन्न उस यज्ञरूप पुरुष पर देवों ने जल का छिड़काव करके उसे पवित्र किया, उसके बाद, देवों, ऋषियों तथा सिद्ध प्रजापतियों ने सृष्टि–कार्य का आरम्भ कर दिया।

इस क्रम में सर्वप्रथम दधिमिश्रित घी की सृष्टि हुई, जिससे पक्षी, जंगल में निवास करने वाले पशु तथा गाँवों में रहने वाले पशुओं का निर्माण किया गया। 'सर्वहुत' इस यज्ञ से ही ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद तथा गायत्री आदि छन्दों के उत्पन्न होने की बात का यहाँ ऋषि ने कथन किया है–

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।।10/90/9

इसी यज्ञ से गधे, घोड़े, गाय, बकरी तथा भेड़ आदि सभी पशुओं की सृष्टि हुई। उसके बाद, प्रजापति के प्राणरूप देवों ने उस विराट् पुरुष को विभाजित किया तो ब्राह्मण इसके मुख से, क्षत्रिय इसकी भुजाओं से तथा वैश्य इसकी जँघाओं से, जबकि शूद्र इसके पैरों से उत्पन्न हुए। इतना ही नहीं, इसके मन से चन्द्रमा, नेत्र से सूर्य, मुख से इन्द्र तथा अग्नि की और प्राणों से वायु की उत्पत्ति हुई–

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत।।13।।

प्रजापतिरूप उस पुरुष की नाभि से अन्तरिक्ष लोक, सिर से द्युलोक, दोनों पैरों से भूमि तथा कानों से दिशाओं की उत्पत्ति हुई। सृष्टि की उत्पत्तिरूप इस मानसिक यज्ञ का सम्पादन करते हुए, देवों

ने यज्ञ में सात परिधियों तथा इक्कीस समिधाओं का निर्माण किया। इस संकल्परूप मानस यज्ञ में देवों ने सृष्टि की उत्पत्ति के नियमों तथा विधि–विधानों का भी निर्माण किया।

ये नियम ही बाद में प्रमुखरूप से प्रतिष्ठापित हुए। इसप्रकार हम देखते हैं कि इस सूक्त में प्रमुखतया आत्मज्ञान को ही महत्ता प्रदान की गयी है, जिसमें पुरुषरूप देवता की महिमा का विस्तार से उल्लेख करते हुए सृष्टि की उत्पत्ति का चित्र प्रस्तुत किया है।

(15) हिरण्यगर्भ– इसीप्रकार ऋग्वेद के ही दशम मण्डल में स्थित हिरण्यगर्भ सूक्त भी दार्शनिक सूक्तों की श्रेणी में आता है। पुरुष सूक्त के समान ही इसमें भी सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा की गयी है। पुरुष सूक्त में आदि पुरुष या विराट् पुरुष से सृष्टि की उत्पत्ति का कथन किया गया है, जबकि यहाँ पर उसी को हिरण्यगर्भ संज्ञा प्रदान की गयी है और इसे 'क' अर्थात् 'सुख' नाम दिया है, जो ऋषि की स्वयं की अनुभूति प्रतीत होता है।

इस सूक्त के आधार पर हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति सृष्टि के आरम्भ में सबसे पहले हुई और उत्पन्न होते ही, वह संसार के सभी प्राणियों का स्वामी हो गया। इसी हिरण्यगर्भ ने द्युलोक तथा पृथिवीलोक को धारण किया हुआ है।[1] सभी को जीवन तथा बल प्रदान करने वाले हिरण्यगर्भ प्रजापति के शासन को सभी प्राणी तथा देवता भी स्वीकार करते हैं। इतना ही नहीं, अमृतत्व तथा मृत्यु तो इनका छाया के समान अनुकरण करते है। इस दृष्टि से इनका महत्त्व स्पष्ट है।

यहाँ पर इन्हें, श्वास लेने वाले तथा पलकों का सञ्चालन करने वाले, सम्पूर्ण गतिशील जगत् का और दो पैर वाले मनुष्यों एवं चार पैर वाले पशुओं आदि सभी का स्वामी कहा गया है। इस संसार में बर्फ से ढके हुए पर्वत, नदियाँ, चारों दिशाएँ एवं विदिशाएँ सभी हिरण्यगर्भ प्रजापति की महिमा को ही कहते हैं। इन्होंने ही द्युलोक तथा स्वर्ग लोक को ऊपर उठाया हुआ है और पृथिवी को स्थिर किया है।

1. ऋग्वेद[illegible]21/1

आकाश में जलों का निर्माण भी हिरण्यगर्भ प्रजापति द्वारा ही किया गया है। सूर्य को भी इसी ने अन्तरिक्ष में थामा हुआ है।[1]

इसके अतिरिक्त प्रकाशित होते हुए, द्युलोक तथा पृथिवीलोक इन्हीं का कृतज्ञभाव से स्मरण करते हैं। ध्यातव्य है कि वैदिक ऋषि ने एक स्थल पर आनन्द प्रदान करने वाले, महान् जलों को उत्पन्न करने वाले, सत्य धर्मों वाले, हिरण्यगर्भ प्रजापति से हिंसा न करने तथा अभिलषित फल प्रदान करने की कामना भी की है–

मा नो हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवं सत्यधर्मा जजान।
यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम।।[2]

इसप्रकार हम देखते हैं कि हिरण्यगर्भ प्रजापति का सृष्टि की प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। पुराणों में सम्भवतः इन्हीं को ब्रह्मा कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वेदान्तदर्शन के 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' सिद्धान्त का आधार भी ऋग्वेद का यह हिरण्यगर्भ सूक्त ही रहा होगा। यद्यपि हिरण्यगर्भ और प्रजापति को कुछ विद्वानों ने भिन्न माना है, किन्तु ये दोनों वस्तुतः एक ही प्रतीत होते हैं।

(16) नासदीय– ऋग्वेद के इस सूक्त (10/129) में भी सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय का कथन करते हुए, इसके देवता 'परमात्मा' के गुणों का उल्लेख किया गया है। इस सूक्त के ऋषि परमेष्ठी प्रजापति हैं। यहाँ पर मात्र सात मन्त्रों में सृष्टि के आरम्भ से भी पूर्व की तथा बाद की स्थिति का चित्र प्रस्तुत किया है। इसके अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति से पहले प्रलयकाल में कोई भावात्मक या अभावात्मक तत्त्व नहीं था। उस समय पृथ्वी से लेकर पाताललोक, अन्तरिक्ष, मृत्यु, अमृत्यु, दिन, रात आदि भी नहीं थे।

उस समय वस्तुतः क्रिया से शून्य, माया के साथ अविभक्तरूप से स्थित एक मात्र प्राणयुक्त 'ब्रह्म' विद्यमान था।[3] सृष्टि की उत्पत्ति से

1. ऋग्वेद– 10/121/5
2. ऋग्वेद– 10/121/9
3. न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न राज्या अह्न आसीत् प्रकेतः।

पहले यहाँ पर संसार को अन्धकार से आच्छादित बताते हुए, इसे परम पिता परमेश्वर की सङ्कल्परूप महिमा से उत्पन्न कहा गया है।[1] वैदिक ऋषि का मानना है कि उत्पन्न होने वाली इस सम्पूर्ण सृष्टि के उपादान तथा निमित्तकारण के विषय में देवता भी अनभिज्ञ हैं, क्योंकि वे सभी तो सृष्टि के अस्तित्व में आने के बाद की ही रचना हैं। इन सभी बातों को तो एकमात्र सुखस्वरूप वह परमात्मा ही जानने में समर्थ है, क्योंकि सृष्टि का स्वामी भी यही है और इसका उपादान और निमित्तकारण भी यही है।[2]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि नासदीय सूक्त में आद्य प्रजापति देव के कार्यों तथा स्वरूप की विस्तार से चर्चा की गयी है, जो वैदिक ऋषियों की सृष्टि के उत्पत्ति के विषय में गहन ज्ञान का परिचायक रहा है, आज भी विज्ञान इसी सिद्धान्त को स्वीकार करता है। सृष्टि की उत्पत्ति में सर्वोच्च शक्ति सम्पन्न एकमात्र परमात्मा के सङ्कल्प की अत्यधिक महत्ता रही है।

(17) वाक्– वाणी की देवी के रूप में स्तुति किए गए 'वाक्' देवता को भी ऋग्वेद के एक सूक्त (10/125) में स्थान मिला है, जिसमें कुछ आठ मन्त्रों का प्रयोग हुआ है। एक मन्त्र को छोड़कर शेष सभी में अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग है। यहाँ पर इन्हें ब्रह्मरूप महान् शक्ति के रूप में चित्रित किया गया है तथा इन्हें अम्भृण ऋषि की पुत्री कहा है, जो ग्यारहों रुद्र, आठ वसुओं, बारह आदित्यों तथा विश्वेदेवों के रूप में सभी स्थलों पर विचरण करती है। इसके अतिरिक्त यहाँ पर इन्हें मित्र, वरुण, इन्द्र, अग्नि, त्वष्टा, पूषा तथा भग नामक ऐश्वर्य के देवता, सोम और अश्विन् देवों को धारण करने वाला भी कहा है–

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।

आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास।। ऋ.–10/129/2

1 . [illegible]0/129/3

2 [illegible]/129/7

अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिंद्राग्नी अहमश्विनोभा।।[1]

यहाँ सच्चिदानन्दरूप परमब्रह्म के साथ वाक् का तादातम्य बताया गया है, क्योंकि वही सम्पूर्ण संसार की अधिष्ठानरूप में स्वामिनी है। यही कारण है कि जितने भी देवता हैं, उन सभी पर इसका प्रभाव परिलक्षित होता है। यही हवि प्रदान करने वाले यजमान के लिए यज्ञ का फल प्रदान करती है।[2] सम्पूर्ण संसार की ईश्वरी वाक् ही वस्तुतः ब्रह्म की ज्ञाता है। इस संसार में व्यक्ति वाक् देवता द्वारा ही सभी अन्नों और सांसारिक भोगों को भोगता है। व्यक्ति की देखना, श्वास लेना आदि सभी क्रियाएँ इन्हीं की कृपा से सम्भव हैं।[3]

वैदिक ऋषि का तो यहाँ तक मानना है कि जो लोग वाक् देवता को नहीं जानते हैं, वे इस संसार में हीनता को प्राप्त होते हैं। इनकी कृपा से व्यक्ति सृष्टि की रचना करने वाला ब्रह्मा, भूत, भविष्य का द्रष्टा, ऋषि, उत्तम बुद्धि वाला सर्वश्रेष्ठ बन जाता है।[4] ब्रह्म या ब्राह्मणों से द्वेष करने वाले, असुरों को मारने के लिए यही देवता रुद्र को धनुष धारण करने की प्रेरणा प्रदान करती है। इसके अतिरिक्त यह स्वजनों के कल्याण के लिए शत्रुओं से युद्ध भी करती है तथा यही सम्पूर्ण द्युलोक और पृथिवीलोक को व्याप्त करके स्थित है।

इस देवता की यह महत्त्वपूर्ण विशेषता कही जा सकती है कि वाक् सूक्त में यह स्वयं ही अपने वैशिष्ट्य का कथन करती है। यह सूक्त वस्तुतः वाक् देवता की महिमा से मण्डित है। इसीलिए कुछ विद्वानों द्वारा वाणी की महत्ता प्राप्त करने के लिए वाक्–सूक्त का पाठ करने का परामर्श भी दिया गया है।

(18) नदी– इसके विषय में हमने संवाद–सूक्त (3/33) में उल्लेख किया है, क्योंकि यहाँ पर ऋषि विश्वामित्र ने दो नदियों की देवतारूप में स्तुति की है। यद्यपि यहाँ उनका प्रयोजन नदियों को पार

1 . ऋग्वेद– 10/125/1
2 . ऋग्वेद– 10/125/2
3 . ऋग्वेद– 10/125/4
4 . ऋग्वेद– 10/125/5

करने के लिए मार्ग देने की प्रार्थना करना प्रमुख रहा है, तो भी यहाँ प्रयुक्त कुल तेरह मन्त्रों में नदियों की प्रशंसा करते हुए, उनके गुणों का कथन किया गया है। यह चिन्तन भी वस्तुतः वैदिक ऋषि की प्राकृतिक उपादानों में देवत्व की भावना का ही परिणाम है। इसके विस्तार के लिए विश्वामित्र–नदी संवाद द्रष्टव्य है।

(19) सरस्वती– सरस्वती पद से अभिप्राय जलमयी या सरों अर्थात् तालाबों वाली से है। मूलरूप में यह नदी है, जो थानेसर के पास से प्रवाहित होती हुई पटियाला के क्षेत्र में घग्घर से आकर मिलती है तथा सिरसा (शिरीषवन) से आगे जाने के बाद, मरुभूमि में लुप्त हो जाती है। ऋग्वेद में इसे सागर तक जाने वाली श्रेष्ठतम नदी कहा गया है। ऋग्वेद के प्रत्येक मण्डल में इसका स्मरण किया गया है।[1] अनेक राजा इसके किनारे निवास करते थे। उत्तर वैदिक काल की सभ्यता, संस्कृति तथा साहित्य इसी सरस्वती की देन है।[2]

इसकी महिमा के कारण ऋग्वेद में सर्वत्र इसका देवी स्वरूप ही वर्णित हुआ है। अथर्ववेद में भी इनसे स्वतन्त्ररूप से और द्यावापृथिवी, इन्द्र एवं अग्नि के साथ रक्षा व सहायता की अनेक प्रार्थनाएँ मिलती हैं। इनका स्तवन माता के समान पोषक, सुखकर, आनन्दवर्धक के रूप में किया गया है। ये उनके द्वारा चाही गयी सभी वस्तुएँ उन्हें प्रदान करती हैं। इसके अलावा यहाँ एक मन्त्र में वैदिक ऋषि द्वारा सरस्वती देवी से स्नेह का लेप करने की प्रार्थना भी की गयी है।[3]

यहाँ पर यह कल्याणों को प्रदान करने वाली, शान्ति तथा सुख प्रदान करने वाली देवी के रूप में वर्णित गयी है। इसके अतिरिक्त यहाँ इनसे दृष्टि से ओझल न होने तथा धन, धान्य तथा दुग्ध की

---

1. ऋग्वेद– 1/3/10–12, **2**/31/8, **3**/20/7, 23/4, 54/13, **4**/4/6, **5**/7/4, 5, 25/4, 5, 27/9, 42/12, 43/1, **6**/3/2, 30/1, 41/2, 61/9, 10, 12, 13, 62/2, 95/7, **7**/11/1, 17/7–9, 36/6, 70/1, 2, 95/1–6, 96/1, 3, **8**/21/18, 22/17–18, 38/10,**9**/67/32, **10**/64/9, 67/32, 131/5 ।
2. वैदिक देवता दर्शन, प्रो. प्रभुदयाल अग्निहोत्री, भाग–2, पृष्ठ, 286–295 ।
3. यद आत्मनित[illegible]रिष्टं सरस्वती तदापृणत् घृतेन। ऋग्वेद– 7/59/1

पर्याप्त मात्रा प्रदान करने की कामना भी की गयी है,[1] सारस्वत प्रदेश के हमेशा ही समृद्ध होने से सरस्वती से इसप्रकार की प्रार्थना उपयुक्त भी प्रतीत होती है। उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद में इडा और भारती को भी सरस्वती के रूप में ही प्रदर्शित किया गया है।

वस्तुतः चिन्तनरूप में यह इड़ा, ज्ञानरूप में सरस्वती और उच्चारण की गयी वाक् के रूप में यही भारती है। ऋग्वेद के 7/95, 96 सूक्तों में भी सरस्वती देवी की स्तुति करते हुए, इन्हें आक्रमणों को रोकने वाली, लोह से निर्मित दुर्ग के समान सुरक्षा प्रदान करने वाली कहा गया है, जो विस्तृत रथ्या के समान प्रवाहित होती है–

प्र क्षोदसा धायसा सस्र एषा सरस्वती धरुणमायसी पूः।
प्रबाबधाना रथ्येव याति विश्वा अपो महिना सिन्धूरन्याः।।[2]

पर्वतों से लेकर समुद्र पर्यन्त बहने वाली पवित्र नदी वस्तुतः सरस्वती ही है, जो समस्त भुवनों को सम्पत्ति से परिपूरित करने वाली है, इसी देवी ने अपने उपासक नहुषवंशियों को सैंकड़ों वर्षों तक यज्ञ के लिए पर्याप्त घृत तथा दुग्ध प्रदान किया है।[3] इसी सरस्वती के किनारे अनेक राजाओं द्वारा यज्ञ करने के उल्लेख भी मिलते हैं।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट है कि ऋग्वेद में देवीरूप में वर्णित सरस्वती का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक है, क्योंकि यहाँ पर तो स्वास्थ्य की कामना से भी इन्हें 'हविष्' अर्पित की गयी है।[4] यज्ञवेदी के दक्षिण भाग में बैठे हुए पितृगण भी यज्ञ की पूर्ति के लिए सरस्वती को आमन्त्रित करके, उनसे यजमान को निरोग बनाने वाले अन्न से सम्पन्न करने की प्रार्थना करते हैं।[5] पितरों के साथ सरस्वती की यह संगति निश्चय ही विचारणीय है। ऐसा प्रतीत होता है सरस्वती के तट

---

1. मा ते युयोम संदृशः। ऋग्वेद– 7/72/1
2. ऋग्वेद– 7/95/1
3. ऋग्वेद– 7/95/2
4. ऋग्वेद– 7/70/1
5. सरस्वतीं पितरोहवन्ते, अनमीवा इष आधेह्यस्मे।

पर ही पितरों के लिए तर्पणादि क्रियाएँ सम्पन्न की जाती होंगी, जिसे दृष्टि में रखकर वैदिक ऋषि ने यह कल्पना की होगी, क्योंकि यहाँ तो इन्हें पितरों के साथ एक रथ पर चलती हुई, उन्हीं के साथ उन्हें अर्पित स्वधाओं तथा उक्थों से आनन्दित होते हुए भी कहा गया है।[1]

(च) वेदों की व्याख्या पद्धति– जैसा कि हम पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं कि ऋग्वेद की भाषा अत्यधिक प्राचीन होने से उसके वास्तविक अर्थ के अनुशीलन के लिए, विभिन्न युगों में आविर्भूत अनेक भाष्यकारों ने अपनी–अपनी दृष्टियों से श्लाघनीय प्रयास किए। इस दृष्टि की भिन्नता ने ही विभिन्न व्याख्या पद्धतियों को जन्म दिया। इनमें कुछ भाष्यकारों ने यज्ञ–याग को लेकर मन्त्रों के अर्थ किए, तो अन्यों ने यहाँ पर अध्यात्मवाद के दर्शन किए।

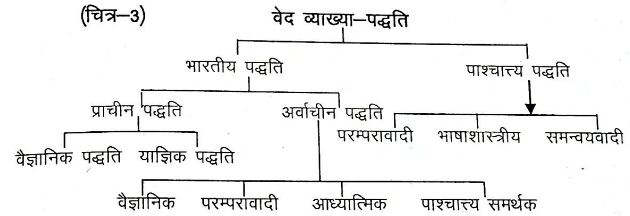
इनके अतिरिक्त दूसरे भाष्यकारों ने यहाँ पर ज्ञान–विज्ञान के मूल का अन्वेषण करते हुए इन मन्त्रों का अर्थ किया। यही कारण है कि वेद के एक–एक शब्द की अनेक व्याख्याएँ की गयीं, ऐसी स्थिति में 'वेदों की व्याख्या पद्धति' एक स्वतन्त्र अध्ययन का विषय ही बन गया। यहाँ हम इनका अत्यन्त संक्षेप में परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं–

वेदव्याख्या पद्धति को सर्वप्रथम हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं, **प्रथम,** भारतीय व्याख्या पद्धति। **द्वितीय,** पाश्चात्त्य व्याख्या पद्धति। इनमें भी प्रथम भारतीय व्याख्या पद्धति में दो वर्ग हैं, प्राचीन व्याख्या पद्धति तथा अर्वाचीन व्याख्या पद्धति। प्राचीन व्याख्या पद्धति को वैज्ञानिक और याज्ञिक दो भागों में विभाजित किया जा सकता है, जबकि अर्वाचीन व्याख्या पद्धति को वैज्ञानिक, परम्परावादी, आध्यात्मिक और पाश्चात्त्य मत का समर्थन करने वाली, इसरूप में चार भागों में विभक्त कर सकते हैं। इसीप्रकार पाश्चात्त्य व्याख्या–विधियों में परम्परा–वादी, भाषाशास्त्रीय व समन्वयवादी ये तीन श्रेणी विद्यमान हैं।

[1] ऋग्वेद– 10/17/7–9

इनमें भी परम्परावादी व्याख्या पद्धति तो भारतीय तथा पाश्चात्त्य दोनों में एक समान ही हैं, उक्त अभिप्राय को सरलता की दृष्टि से हम इसप्रकार समझ सकते हैं–

(चित्र–3)



(अ) भारतीय प्राचीन पद्धति– जैसा कि हम पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं कि वेदों के आविर्भाव के कुछ सौ वर्षों के बाद ही इनके अर्थ को समझने में कठिनाई का अनुभव किया जाने लगा, जिसका संकेत हमें निरुक्त में भी मिलता है।[1] इसके अतिरिक्त ब्राह्मणग्रन्थ भी इसी दिशा में एक कड़ीरूप में देखे जा सकते हैं, क्योंकि यहाँ भी वेदों के अर्थों को ही उद्घाटित करने का श्लाघनीय प्रयास किया गया है, किन्तु सामाजिक वातावरण की दृष्टि से उनका यह चिन्तन कर्मकाण्ड परक ही रहा, किन्तु बहुत बाद में इस क्षेत्र में आचार्य यास्क का आविर्भाव हुआ, जो वस्तुतः वेदों के प्रथम व्यवस्थित भाष्यकार माने जा सकते हैं।

(i) **आचार्य यास्क–** 700 ई.पू. के लगभग स्थित[2] इन्हें वैज्ञानिक भाष्यकार की श्रेणी में रखा जा सकता है, इन्होंने निरुक्त के चौदह अध्यायों में लगभग छः सौ ऋचाओं की विस्तृत या आंशिकरूप से व्याख्या की है। यहाँ पर इन्होंने आवश्यकता के अनुसार इतिहास और समाज विज्ञान को भी कुछ स्थलों पर उद्घाटित किया है। संक्षिप्त

[1] . साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मस्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्राहुः। निरुक्त– 1/20 ।

[2] . ऋक्सूक्तनिकरः, डॉ. उमाशंकर 'ऋषि' पृष्ठ– 99।

होने पर भी यह व्याख्या परवर्ती व्याख्याकारों के लिए मार्गदर्शक रही है। दुरूह वैदिक पदों का शब्द तथा अर्थ दोनों ही दृष्टियों से किया गया निर्वचन, आज भी वेद के व्याख्याकारों के लिए मार्ग प्रशस्त करने वाला है, जिससे उस समय प्रचलित अर्थों और सम्प्रदायों का भी परिचय प्राप्त होता है।

इसी प्रसंग में यह तथ्य विशेषरूप से ध्यातव्य है कि हमने यास्क को प्रथम वेदभाष्यकार इस दृष्टि से कहा है, क्योंकि उनके पूर्ववर्ती लगभग बारह व्याख्याकारों,[1] जिनका यहाँ उन्होंने नामोल्लेख भी किया है, उनकी कृतियाँ निरुक्त के समान आज उपलब्ध नहीं हैं।[2] वैदिक कठिन शब्दों का संग्रह 'निघण्टु' इस दिशा में प्रशंसनीय प्रयास कहा जा सकता है। वस्तुस्थिति तो यह है कि यास्क ने अपने समय में उपलब्ध सभी संसाधनों का उपयोग करते हुए, वैज्ञानिक तटस्थता का परिचय देकर, इस ग्रन्थ में वेदमन्त्रों की व्याख्या प्रस्तुत की है।

निरुक्तकार का यह कथन कि– 'नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति, पुरुषापराधः स भवति।'[3] वस्तुतः उनकी सूक्ष्मतम दृष्टि का ही परिचायक है, जो उन्होंने उनके समय के कौत्सादि प्रसिद्ध निरुक्तकारों की आलोचना में प्रस्तुत किया है।

(ii) **आचार्य सायण**– चौदहवीं शती में वर्तमान इन्हें हम याज्ञिक व्याख्याकार की श्रेणी में रख सकते हैं, क्योंकि वेदों को कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड के प्रति अभिमुख मानकर ही इन्होंने वैदिक संहिताओं, इनके तेरह ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थों पर 'वेदार्थ प्रकाश' नामक अद्भुत भाष्य का प्रणयन किया। उनके इस प्रयास को वेद–व्याख्या की दिशा में चिरस्मरणीय माना जाता रहेगा। वस्तुस्थिति तो यह है कि आचार्य सायण के भाष्य ही वेद के जिज्ञासु को इसमें प्रवेश का मार्ग बताते हैं।

---

1 अग्रायण, औपमन्यव, औदुम्बरायण, और्णवाभ, कात्थक्य, क्रौष्टुकि, गार्ग्य, गालव, तैटीकि, वार्ष्यायणि, शाकपूणि, स्थौलाष्ठीवि और तेरहवें यास्क स्वयं।
वैदिक साहित्य और संस्कृति, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ–345 ।

2 . निरुक्त के टीकाकार आचार्य दुर्ग ने तब तक उपलब्ध निरुक्तों की संख्या चौदह मानी है– निरुक्तं चतुर्दशप्रभेदकम्। दुर्गवृत्ति– 1/13 ।

3 निरुक्त– 1/16 ।

इसी प्रसंग में उल्लेखनीय यह भी है कि आचार्य यास्क तथा सायण के बीच लगभग दो सहस्र वर्षों के अन्तराल में स्कन्दस्वामी तथा वेंकटमाधव दो भाष्यकारों के ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं, जिनमें निरुक्त के साथ–साथ ब्राह्मणग्रन्थों और अनुक्रमणियों से भी सहायता ली गयी है, सायणभाष्य पर इनका प्रचुर प्रभाव परिलक्षित होता है।

सायणभाष्य की दूसरी बड़ी विशेषता प्रत्येक सूक्त के यज्ञ में विनियोग का विवेचन कही जा सकती है। वेद का अर्थज्ञान केवल यज्ञ के अनुष्ठान में उपयोगी है, यह बात उनकी उक्तियों से प्रदर्शित होती है।[1] इसीलिए उन्होंने वेदमन्त्रों के यज्ञपरक अर्थ ही किए हैं, किन्तु जहाँ पर यह अर्थ उचित प्रतीत नहीं हुआ तो वहाँ पर उन्होंने अद्वैत वेदान्त का अवलम्ब लिया है, जैसे– पुरुष–सूक्त की व्याख्या में।

यदि सूक्ष्मदृष्टि से देखा जाए तो इस भाष्य में उनके पाण्डित्य की पराकाष्ठा देखने को मिलती है, क्योंकि इसमें उस समय उपलब्ध समस्त शास्त्रीय परम्पराओं का समन्वय किया गया है। अपने कथ्य की पुष्टि के लिए उन्होंने पुराण, इतिहास, स्मृति, कोष, निरुक्त, व्याकरण, कल्पसूत्र, ब्राह्मण और महाभारत आदि से उद्धरण दिए हैं, जो उनकी वैज्ञानिक तथा तुलनात्मक वैज्ञानिक दृष्टि की भी पुष्टि करते हैं।

इसी प्रसङ्ग में उल्लेखनीय यह भी है कि ये इस बात से भली–भाँति परिचित थे कि वेदों के लौकिक, याज्ञिक तथा आध्यात्मिक तीनों प्रकार के अर्थ सम्भव हैं, किन्तु फिर भी उनकी आस्था यज्ञपरक अर्थों के प्रति सुदृढ़ रही है। यद्यपि कुछ पाश्चात्त्य तथा भारतीय विद्वानों ने उनकी इस दृष्टि की आलोचना भी की है, किन्तु उनकी तार्किक शैली के समक्ष हमें उन अर्थों को मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

उनके भाष्य के सम्बन्ध में पाश्चात्त्य विद्वानों की सबसे बड़ी आपत्ति है कि वे संस्कृत के समान ही वैदिक शब्दों को भी अनेकार्थक मानकर मनमाने ढंग से अर्थ कर देते हैं, क्योंकि पाश्चात्त्य भाषाशास्त्री

---

1. अर्थज्ञानस्य तु यज्ञानुष्ठानार्थत्वात् तत्र तु यजुर्वेदस्यैव प्रधानत्वात् तद् व्याख्यानादौ युक्तम्, इति। ऋग्वेदभाष्यभूमिका– पृष्ठ, 2।

तो ऋग्वेद को नियत देश तथा नियत काल की रचना मानते हुए, वैदिक शब्दों के एकार्थकता के सिद्धान्त के पक्षधर रहे हैं। एक अर्थ से असन्तुष्ट होने पर सायण द्वारा दिए गए अनेक दूसरे विकल्पार्थ को वे उनकी अस्थिरता की संज्ञा प्रदान करते हैं, जिसे किसी भी दृष्टि से समीचीन नहीं कहा जा सकता है, किन्तु फिर भी पाश्चात्त्य विद्वानों का विशाल वर्ग सायण के भाष्य तथा उनकी शैली का प्रशंसक रहा है।

(आ) भारतीय अर्वाचीन पद्धति– गत डेढ़ सौ वर्षों से 19वीं शती में सुधारवादी आन्दोलनों के सूत्रपात के साथ स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा योगीराज अरविन्द ने भी जनमानस को वेदों के प्रति अत्यधिक आकृष्ट किया है। इन दोनों ने ही वेदों के प्रति पाश्चात्त्य दृष्टि को भी नकार कर, मध्यकालीन भाष्यकारों से असहमति प्रदर्शित करते हुए, वेद मन्त्रों की अभिनव व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं, जिनकी व्याख्या पद्धति के विषय में हम यहाँ संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं–

(i) **स्वामी दयानन्द सरस्वती–** आर्य समाज के संस्थापक इन्होंने वेदों का प्रचार, इसकी शिक्षा से वंचित वर्गों में भी करने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। इन्होंने सर्वप्रथम तो ऋग्वेदभाष्यभूमिका में अपने वेद विषयक सिद्धान्तों तथा मान्यताओं को प्रतिपादित किया, जिसमें देवता वाद का खण्डन करते हुए, एकेश्वरवाद का मण्डन किया है। उनके मत में, इन्द्र, अग्नि, वरुणादि सभी देवतावाची पद यौगिक होने के कारण एक परमेश्वर के ही विविध पक्षों के बोधक हैं। इन्होंने निरुक्त तथा व्याकरण को आधार मानकर, सभी वैदिक शब्दों की यौगिक या योगरूढ़ के रूप में व्याख्या प्रस्तुत की।

उनके मत में ब्राह्मणभाग को वेद नहीं कहा जा सकता है, वे केवल जीवोक्त वेदव्याख्या तथा कर्मकाण्ड से सम्बन्धित ग्रन्थ हैं। उनका मानना है कि वेदों में इतिहास नहीं है, किन्तु ज्ञान–विज्ञान के सभी सूत्र यहाँ अवश्य विद्यमान हैं। स्वामीजी की पद्धति ईश्वर की शक्ति का प्रदर्शन करने के कारण एक ओर आध्यात्मिक तथा दूसरी ओर ज्ञान–विज्ञान का मूल मानने से वैज्ञानिक भी कही जा सकती है।

उन्होंने यजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता का सम्पूर्णरूप से तथा ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के 2/2 तक ही भाष्य लिखा है, जिसमें सायण को अस्वीकार करते हुए, आचार्य यास्क का समर्थन किया है।

इसी प्रसङ्ग में विश्वभारती अनुसन्धान परिषद् ज्ञानपुर वाराणसी से 1992 में पुनः प्रकाशित पं. भगवद्दत्त तथा हंसराज द्वारा सम्पादित वैदिककोश की चर्चा करना अनुचित नहीं होगा, जिसे वेदव्याख्या पद्धति की दिशा में आर्य समाज के महत्त्वपूर्ण योगदान के रूप में देखा जा सकता है, क्योंकि यहाँ पर स्वामी दयानन्द द्वारा की गयी व्याख्या के अनुसार वैदिक शब्दों के अर्थों को निबद्ध किया गया है।

(ii) **योगीराज महर्षि अरविन्द–** ये अपने युग (1872–1950) के अद्भुत साधक, विद्वान् और ऋषि थे, इन्होंने विभिन्न विषयों पर अपने मौलिक विचारों की अभिव्यक्ति की है। वेदों पर इनकी पुस्तक 'ऑन दॉ वेद' (अनुवाद–वेदरहस्य), वेदों की व्याख्या की दिशा में अभूतपूर्व प्रयास कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त इन्होंनें ऋग्वेद के कुछ ही अग्नि–सूक्तों का आध्यात्मिक व्याख्या पद्धति से विस्तृत टिप्पणियों के साथ अंग्रेजी अनुवाद (Hymns to Sacred Fire) भी किया है। पाण्डिचेरी में इनका विश्वविख्यात आश्रम है।

इनके अनुसार वेद मन्त्रों के दो अर्थ हैं, **प्रथम,** यज्ञ–याग में लिप्त लोगों के लिए स्थूल अर्थ, **द्वितीय,** अध्यात्म में निपुण लोगों के लिए सूक्ष्म अर्थ। सभी यज्ञ–विधानों में ये दोनों ही अर्थ विद्यमान हैं। इसीलिए यज्ञ भी बाह्य और आध्यात्मिक दो प्रकार के हैं। वेदार्थ ज्ञान के लिए ये किसी बाह्य साधन की अपेक्षा नहीं करते हैं, क्योंकि योग तथा तप द्वारा पवित्र हृदय में यह तो स्वयं ही स्फुरित होता है।

इसके अतिरिक्त इनकी मान्यता है कि वेद का बाह्य अर्थ ही प्रकाशित होता है, जबकि गूढ़ार्थ तो आध्यात्मिक दृष्टि से ही जाना जा सकता है। इसीप्रकार अग्नि के दो अर्थ हैं। **प्रथम,** हवनकुण्ड में प्रदीप्त अग्नि। **द्वितीय,** हृदय में प्रज्वलित इच्छाशक्तिरूपी सूक्ष्म अग्नि। सूर्य स्थूलरूप से आकाश में स्थित प्रकाशमान पिण्ड है, जबकि सूक्ष्मरूप में अन्तःकरण में प्रकाशित उच्चज्ञान का देवता विद्यमान है। सभी देव एक

ओर भौतिक शक्ति के प्रतिनिधि हैं तो दूसरी ओर ये परमात्मा के दिव्य शक्ति के अङ्गरूप में मनोवैज्ञानिक तत्त्व के प्रतीक हैं। इन्होंने वैदिक यज्ञों की व्याख्या अग्नि के नेतृत्व में होने वाली आध्यात्मिक यात्रा के रूप में की है। इनके मत में, वेद सिद्धों की वाणी है, जो आध्यात्मिक जगत् के रहस्यों को उद्घाटित करती है।

(इ) पाश्चात्त्य परम्परावादी पद्धति– पाश्चात्त्य जगत् में वेदों का परिचय होने पर सबसे बड़ी समस्या यूरोपीय भाषाओं में इसके अनुवाद की थी. ऐसी स्थिति में कुछ विद्वानों ने वेदों के परम्परागत अर्थ को ही प्रमाण मानकर, इसका अनुवाद किया, जिनमें होरेस हेमन विल्सन, फ्रेड्रिख मैक्समूलर का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है, जिनका हम यहाँ अत्यन्त संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं–

(i) **विल्सन–** इनका नाम परम्परावादी पाश्चात्त्य विद्वानों में अग्रणी है। इन्होंने सायणभाष्य के आधार पर सम्पूर्ण ऋग्वेद का अंग्रेजी में अनुवाद किया, जो कुल छः खण्डों में पूरा हुआ। ये सायण के कट्टर अनुयायी थे, इस अनुवाद में इन्होंने कुछ स्थलों पर टिप्पणियों का प्रयोग भी किया है। दूसरी कृतियों के द्वारा इन्होंने आधुनिक शोध–प्रक्रिया का मार्ग भी प्रशस्त किया।

(ii) **मैक्समूलर–** इन्हें मोक्षमूलर के नाम से भी जाना जाता है। इनके द्वारा सम्पादित सायण–भाष्य आज भी सम्पादन के क्षेत्र में दिशा निर्देशक माना जाता है, इस ग्रन्थ की विस्तृत भूमिका में इनका पाण्डित्य तथा परिश्रम दोनों ही प्रदर्शित होते हैं। सायण के विषय में इनका मानना है कि– 'यदि उनके द्वारा निर्दिष्ट व्याख्या की शैली आज हमें प्राप्त नहीं होती तो हम वेद के दुरूह अर्थ को जानने की दिशा में एक पग भी नहीं रख सकते थे।'

इसके अतिरिक्त इन्होंने बृहद्देवता, ऋक्प्रातिशाख्य, तुलनात्मक धर्म, संस्कृत साहित्य का इतिहास, भाषा–विज्ञान, व्याकरण, षड्दर्शन, बौद्धदर्शन, रामकृष्ण परमहंस का जीवन चरित और आत्मकथा आदि अनेक विषयों पर स्वतन्त्ररूप से ग्रन्थों की रचना भी की। ब्लूमफील्ड ने

इनके 'मोक्ष' नाम के पीछे इनकी विचारशक्ति की स्वाधीनता को कारण माना है। भारत के प्रति इनकी गहन श्रद्धा इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भारत से हम क्या सीखें?' में प्रदर्शित हुई है।

(इ) पाश्चात्त्य भाषाशास्त्रीय पद्धति– इस पद्धति के अनुयायियों में सर विलियम जोन्स का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। इन्होंने संस्कृत भाषा की संरचना को अद्भुत स्वीकार करते हुए, ग्रीक की अपेक्षा इसे परिपूर्ण तथा लैटिन से अधिक विपुल, उत्कृष्ट तथा परिष्कृत माना है। इन्होंने इन सब भाषाओं के साथ गौथिक, केल्टिक तथा फारसी को भी एक ही भाषा–परिवार से जोड़कर, ऐतिहासिक भाषाशास्त्र की नींव रखी, जिसके परिणाम स्वरूप उन्नीसवीं शती में यूरोपीय भाषाओं के उपलब्ध प्राचीनरूप की भारतीय भाषाओं के साथ तुलनात्मक शैली का आरम्भ हुआ। वेदमन्त्रों के अर्थावबोध में भी इसी पद्धति को अपनाया गया, जो बाद में अत्यधिक लोकप्रिय भी हुई, क्योंकि बाद में कुछ परम्परावादी विद्वानों ने भी इस पद्धति के वैज्ञानिक होने से इसको स्वीकार किया। इस पद्धति को स्वीकार करके वेदों का अर्थ करने वाले विद्वानों का संक्षेप में परिचय इसप्रकार है–

(i) **रुडाल्फ रॉथ–** वैदिक भाषा विज्ञान के क्षेत्र में सर्वाधिक कार्य करने वाले ये, यूजीन बर्नूफ के विद्यार्थी थे। मात्र 25 वर्ष की आयु में इन्होंने 'वेद का साहित्य और इतिहास' नामक जर्मन ग्रन्थ की संरचना करके 'समालोचनात्मक वैदिक अनुशीलन' की आधारशिला रखी। इसके तीन खण्डों में क्रमशः संहिता, प्रातिशाख्य तथा ऋग्वेद के इतिहास तत्त्व का विवेचन प्रस्तुत किया गया है, किन्तु सायण के भाष्य का तो इन्होंने पूर्णरूप से बहिष्कार ही किया है।

अपनी व्याख्या पद्धति में इन्होंने ऋग्वेद के उन सभी सन्दर्भों की तुलना की है, जो भाव तथा भाषा की दृष्टि से समानान्तर रहे हैं, साथ ही, प्रसंग, व्याकरण और निर्वचन को भी इन्होंने ध्यान में रखा है, किन्तु कुछ ही स्थलों पर परम्परागत अर्थों को छुआ है। इसके अलावा

अवेस्ता और यूरोपीय भाषाओं के शब्दों के अर्थों का सहयोग भी यत्र–तत्र लिया है। इनका शब्दकोश आज भी वैदिक अध्ययन के क्षेत्र में अप्रतिम कहा जा सकता है।

1852 ई. में इन्होंने निरुक्त का आलोचनात्मक संस्करण भी प्रकाशित किया। इनकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृति संस्कृत महाकोश है, जिसमें इन्होंने वैदिक शब्दों की समीक्षा प्रस्तुत की, जबकि बोटलिंक ने इसमें संस्कृत शब्दों पर टिप्पणियों का लेखन किया। इसका प्रकाशन रूस की 'इम्पीरियल अकादमी ऑफ साइन्सेज़' ने किया। रॉथ ने वेद में अर्थानुसन्धान के क्षेत्र में आगमन–विधि और ऐतिहासिक–विधि दोनों का ही प्रवर्तन किया है। इनकी मान्यता है कि वेदों का अर्थ करने के लिए वेद में प्रयुक्त किसी शब्द विशेष के विभिन्न स्थलों का अन्वेषण आवश्यक है, जिसके आधार पर ही निश्चित अर्थ निकाला जा सकता है, इस प्रक्रिया में शब्द के विकास–क्रम को आधार बनाकर सहयोग लिया जाना उपयोगी होता है।

(ii) **ग्रासमान**– रॉथ के शिष्य तथा उनके कट्टर अनुयायी इन्होंने ऋग्वेद पर दो महत्त्वपूर्ण कार्य किए हैं। **प्रथम**, 'ऋग्वेद का शब्दकोश', जिसमें रॉथ द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलकर, मात्र ऋक्संहिता के शब्दों का जर्मन भाषा में अर्थ किया है। **द्वितीय**, इसी आधार पर इन्होंने ऋग्वेद के मन्त्रों का जर्मन भाषा में पद्यानुवाद भी प्रस्तुत किया, जो दो खण्डों में लीपजीग से 1876 ई. में प्रकाशित हुआ है।

(उ) समन्वयवादी पाश्चात्त्य पद्धति– रॉथ की भाषाशास्त्रीय पद्धति का अवलोकन करने के बाद, विद्वानों के विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया, जिससे परवर्ती व्याख्याकारों ने एक निर्णय किया कि– भारतीयों के भाष्यों का अन्धानुकरण अनुचित है, किन्तु उनकी अविच्छिन्न परम्परा का सर्वथा त्याग भी संगत नहीं है। विशेषरूप से मैक्समूलर के सायणभाष्य के प्रकाशन के बाद, तो रॉथ के अनुयायियों में भी 'परम्परा' के प्रति आकर्षण में वृद्धि हुई, किन्तु फिर भी भाषाशास्त्रीय निष्कर्षों को छोड़ना उन्हें उचित प्रतीत नहीं हुआ। इस पद्धति के प्रमुख विद्वानों का संक्षिप्त परिचय इसप्रकार है–

(i) **लुडविग**– इन्होंने छः खण्डों में ऋग्वेद का अनुवाद तथा व्याख्या प्रस्तुत की, जिनमें ऋत, ब्रह्म, सत्य और माया आदि वैदिक शब्दों पर विस्तृत विचार व्यक्त किए हैं। पाश्चात्त्य तथा पौरस्त्य मतों का समन्वय, इस कृति की महत्त्वपूर्ण विशेषता कही जा सकती है। इसके अतिरिक्त इन्होंने 1893 ई. में वैदिक साहित्य के क्षेत्र में अब तक किए गए, अपने सम्पूर्ण कार्यों का आकलन करके, एक अन्य ग्रन्थ की रचना भी की। इसलिए इनकी गणना समन्वयवादी विद्वानों में विशेषरूप से की जाती है।

(ii) **ग्रिफिथ**– रॉथ के अनुयायी तथा शिष्य प्राच्य विद्या विशारद इन्होंने चारों वेदों का अंग्रेजी में पद्यानुवाद किया, जिसमें समन्वयवादी दृष्टिकोण को स्वीकार करके सायणभाष्य का पर्याप्तरूप से अनुकरण किया गया है। यह अनुवाद चार खण्डों में 1889–1892 ई के मध्य प्रकाशित हुआ। बाद में भी इसके अनेक संस्करण प्रकाशित हुए, इसमें पद–पद पर टिप्पणियाँ तथा अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ प्रस्तुत की गयी हैं। वेदों के अलावा इन्होंने वाल्मीकीय रामायण का भी पद्यानुवाद किया है। ये अनेक वर्षों तक काशी के संस्कृत कॉलेज में प्राचार्य पद पर भी विराजमान रहे।

(iii) **ऑल्डेनबर्ग**– इन्होंने भी मैक्समूलर के समान ही, अनेक क्षेत्रों यथा– बौद्ध साहित्य, वेद तथा सूत्रग्रन्थों पर भी कार्य किया है। इतना ही नहीं, मैक्समूलर द्वारा सम्पादित ग्रन्थ 'पवित्र प्राच्य ग्रन्थमाला' के अनेक भागों में गृह्यसूत्रों तथा ऋग्वेद के अग्निसूक्तों का सटिप्पण अनुवाद भी इन्होंने किया। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'ऋग्वेद पर टिप्पणी' नाम ग्रन्थ का लेखन भी किया, जिसका प्रकाशन 1909 तथा 1912 में हुआ, जिसमें ऋग्वेद के सूक्तों का व्याकरण और उच्चारण की दृष्टि से विस्तृत विवेचन किया गया है।

उल्लेखनीय है कि 'वेद के धर्म' पर एक अद्भुत ग्रन्थ का प्रणयन करके, इन्होंने सिद्ध कर दिया कि वेदों के कर्मकाण्ड के ज्ञान के अभाव में वैदिकधर्म का ज्ञान सम्भव नहीं है, ये दोनों ग्रन्थ जर्मन भाषा में ही लिखे गए हैं। इसप्रकार ये भी समन्वयवादी विचारधारा के ही समर्थक थे। इनके द्वारा किया गया ऋग्वेद विषयक कार्य आज भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण और विद्वानों द्वारा समादरणीय है।

(iv) **गेल्डनर–** रिचर्ड पिशेल के साथ मिलकर इन्होंने 'वैदिक अध्ययन' नामक ग्रन्थ का लेखन तीन खण्डों में किया, जिसका प्रकाशन स्तुतगार्त से 1889–1901 ई. में हुआ। इसमें अनेक वैदिक मन्त्रों को स्पष्ट किया गया है। इनका मानना है कि– 'ऋग्वेद पूर्णतया भारतीय मेधा की सृष्टि है, किन्तु इसे समझने के लिए परवर्ती साहित्य का चिन्तन भी अनिवार्य है।' इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि ये इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्' सिद्धान्त के समर्थक हैं। इनके अनुसार आचार्य सायण किसी भी यूरोपीय विद्वान् की अपेक्षा वेदों के अर्थ की समझ अधिक रखते थे। इसप्रकार सायण के विषय में इनकी विचारधारा रॉथ के ठीक विपरीत रही।

(v) **मैक्डॉनल–** वेद के पाश्चात्त्य विद्वानों में इनका नाम अत्यन्त आदर के साथ लिया जाता है। इनके पिता भारत में ही सेना के उच्चाधिकारी थे। इनकी शिक्षा जर्मनी के गॉर्टिजन में हुई। इन्होंने मोनियर विलियम्स, बेन्फी, रॉथ और मैक्समूलर से शिक्षा प्राप्त की। पी–एच. डी. की शोध उपाधि के लिए, इन्होंने आचार्य कात्यायन की सर्वानुक्रमणी पर कार्य किया तथा बाद में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में संस्कृत के प्राध्यापक भी रहे।

इन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवनभर वैदिक साहित्य पर ही कार्य किया, वैदिक धर्म, वैदिक देवशास्त्र, ऋग्वेद के उषःसूक्त, बृहद्देवता का अनुवाद (दो भागों में), वैदिक व्याकरण, वैदिक व्याकरण (छात्र संस्करण), वैदिक रीडर तथा भारत का अतीत, इनके अंग्रेजी भाषा में लिखे गए महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। इनमें भी वैदिक रीडर को भारतीय

विश्वविद्यालयों में अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई। इसमें ऋग्वेद के विभिन्न मण्डलों से संकलित तीस सूक्तों पर स्वतन्त्र अनुवाद तथा टिप्पणियों का उल्लेख किया गया है। इसकी भूमिका तथा शब्दकोश अत्यधिक प्रशंसनीय रहे हैं। वैदिक शब्दों के अर्थ करने में इनका मत विद्वानों में अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखा जाता है।

(छ) वेदों का महत्त्व– वेद शब्द √विद् ज्ञाने धातु से घञ् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है ज्ञान। वस्तुतः प्राचीन ऋषियों ने घोर तप का आचरण करके, जो भी ज्ञान अर्जित किया अथवा ईश्वरीय अनुकम्पा से उन्हें जिस भी ज्ञान के दर्शन हुए (ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः), उस सभी का संग्रह वेदों में किया गया है।

अथाह ज्ञान की राशि के अक्षय भण्डार वेद, भारत ही नहीं, अपितु विश्वसाहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। सामान्यरूप से वेदों से अभिप्राय ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद से ग्रहण किया जाता है, किन्तु 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इत्यादि परिभाषा के अनुसार संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक आदि सम्पूर्ण वैदिक साहित्य को ही वेद संज्ञा प्रदान की गयी है।

वेदों को श्रुति भी कहते हैं, क्योंकि प्राचीनकाल में लेखनकला का विकास न होने से गुरु–शिष्य परम्परा से ही इनकी सुरक्षा सम्भव हो सकी। तदनुसार गुरु अपने शिष्यों को मन्त्रों का ज्ञान कराते थे तथा शिष्य उन्हें सुनकर अपनी तीक्ष्ण मेधा द्वारा हृदयङ्गम करके, अपने शिष्यों को उन्हीं मन्त्रों की शिक्षा प्रदान करते थे। ध्यातव्य है कि इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में स्वर तथा उच्चारण विषयक सभी दोषों का विशेषरूप से ध्यान रखा जाता था।

इसीप्रकार सार्थक, सुसङ्गत और उत्तम अर्थ का कथन करने से वेदों को 'निगम' संज्ञा भी प्रदान की गयी। भारतीय संस्कृति तथा अन्य शास्त्रों में वेदों को आप्त–प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है, जो वेदों के महत्त्व को इंगित करता है। इतना ही नहीं, वेदों को सर्व–

ज्ञानमय तथा सभी विद्याओं का उत्पत्ति स्थान भी माना गया है।[1] वस्तुस्थिति तो यह है कि वेदों में दर्शन, राजनीति, मनोविज्ञान, गणित, अर्थशास्त्र, काव्यशास्त्र, अध्यात्म आदि अनेकानेक विषयों का सूक्ष्माति–सूक्ष्म चिन्तन उपलब्ध होता है, जो वैदिक ऋषियों की नवनवोन्मेषिणी प्रतिभा के परिचायक हैं।

इसके अतिरिक्त वेद भारतीय–संस्कृति के मूल स्रोत भी हैं, क्योंकि यदि हम इसके वास्तविक स्वरूप को जानना चाहते हैं, तो हमें इसके लिए वेद और वैदिक साहित्य का मुखापेक्षी होना ही पड़ेगा। भारतीय–संस्कृति के प्रसिद्ध विद्वान् लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने तो आर्यत्व के लक्षण के रूप में ही वेदों की प्रामाणिकता को प्रमुखरूप से मान्यता प्रदान की है– 'प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु।'

इतना ही नहीं, वेदों में सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, भाषा वैज्ञानिक, ऐतिहासिक, काव्यशास्त्रीय तथा धार्मिक दृष्टियों से प्रभूत सामग्री उपलब्ध होती है, जिससे हमें अपने पूर्वजों के विषय में गहन जानकारी मिलती है। विश्वसाहित्य में सर्वाधिक प्राचीन होने का श्रेय ऋग्वेद को ही जाता है, इसकारण भाषा–वैज्ञानिक दृष्टि से भी विद्वानों के लिए यह अत्यधिक उपयोगी रहा है, क्योंकि इसी के माध्यम से हमें भाषा के क्रमिक विकास का ज्ञान होता है। साथ ही, वैदिक ऋषियों की काव्यप्रतिभा से परिचित होने के लिए भी वेदों का गहन अध्ययन ही अपेक्षित है।

•••

[1]. सर्वज्ञानमयो हि सः। मनुस्मृति– 2/6 ।

।।श्रीः।।

ऋक्सूक्त–कलिका

अग्निसूक्त (1/1)

ऋषि–मधुच्छन्दा   **देवता**–अग्नि   **छन्द**–गायत्री

ॐ अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्।।1।।

पदपाठ– ॐ। इति। अग्निम्। ईळे। पुरःऽहितम्। यज्ञस्य। देवम्। ऋत्विजम्। होतारम् । रत्नऽधातमम्।।1।।

अन्वय– यज्ञस्य पुरोहितम्, देवम्, ऋत्विजम्, होतारम्, रत्न–धातमम्, अग्निम् ईडे ।।1।।

शब्दार्थ– देवम्– दानादि गुणों से युक्त, **ईडे**– स्तुति करता हूँ, **होता**–हवन करने वाले, **रत्नधातमम्**– रत्नों (धनों) को धारण करने वाले। **देवम्**– दिव्य गुणों से युक्त, दानादि गुणों से युक्त।

अनुवाद– यज्ञ के पुरोहित, दानादि गुणों से युक्त, ऋत्विक्, होता, रत्नादि पदार्थों को देने वालों में श्रेष्ठ, अग्निदेव की मैं स्तुति करता हूँ।।1।।

'चन्द्रिका'– प्रस्तुत मन्त्र में मधुच्छन्दा ऋषि अग्निदेवता की स्तुति करते हुए कहते है कि– जो अग्नि यज्ञ का पुरोहित है अर्थात् जिस प्रकार पुरोहित राजा का अभीष्ट करता है, उसीप्रकार अग्नि भी यजमान के अभीष्ट का सम्पादन करता है, ऐसा गुण विशिष्ट, जो अपने यजमानों को पुत्र–पौत्र धन, धान्यादि धन प्रदान करता है, जो स्वयं भी प्रकाशमान है तथा दूसरी वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है, जो ऋग्वेद की ऋचाओं द्वारा यज्ञ को सम्पादित करने वाला पुरोहित